कालसुन्दरी

कालसुन्दरी

कालसुन्दरी

तथा अन्य कहानियाँ

ओंकारनाथ श्रीवास्तव

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली बम्बई इलाहाबाद पटना मद्रास

कीर्त्ति के लिए

ये कहानियां

आपके सामने हैं। इन कहानियों की भी कहानियाँ हैं, काफ़ी दिलचस्प, मगर उन्हें अभी सामने नहीं ला सका हूँ। लगता है अभी इसका समय नहीं आया है। फिर कभी लिखूँगा। फ़िलहाल तो मुझे एक घटना याद आ रही है।

मेरे मुहल्लेवालों ने जब 'कालसुंदरी' रेडियो पर सुनी तब उन्हें बहुत ताज्जुब हुआ। एक ने तो यहाँ तक कहा—"कै लालन बाबू, का जस जस यह सब होत जात रहा तस तस तुम लिखत जात रह्यो? हम पंच तो सब कुछ बिसरि गएन रहै, मुल तुम्हारि किहानी सुना तो सब कुछ फिरि से यादि आय गा।" मुझे यह सुनकर बहुत मजा आया। क्योंकि उस कहानी की बहुत सी घटनाएँ मेरी कल्पना की उपज थीं, वे वास्तव में कभी भी घटित नहीं हुई थीं। मैंने कुछ चरित्रों को उभारने के लिए अपनी ओर से उनका समावेश कर दिया था। खैर, उस वक़्त तो मुझे सिर्फ़ मजा ही आया मगर बाद में मैं इस घटना को लेकर कुछ सोचने के लिए मजबूर हुआ।

सोचने पर मुझे लगा कि यह महज़ एक मामूली घटना नहीं बल्कि एक बहुत बड़ा संकेत है। दैनिक जीवन की साधना में लगे हुए मामूली लोग जिनको पात्र बनाकर और जिनके लिए हम लिखते हैं वे हमारी बात को इस क़दर मानते हैं कि स्वयं अपने को भूलकर हमारी क़लम को ठीक ठह-राते हैं।

ऐसी स्थिति में हम अपनी मनमानी बात उनसे मनवा कर मजा भी ले सकते हैं मगर ज़ाहिर है कि यह रास्ता ग़लत दिशा में भी जा सकता है।

क्योंकि यह भी तो हो सकता है कि उन लोगों के चाल-ढाल, बानी-व्यवहार को अंकित करने का जो अभ्यास हमने किया है उसी के बल पर हम अपने पूर्वग्रहों को यथार्थ के रूप में चित्रित कर दें। सच पूछा जाए तो वह चित्रण यथार्थ का आभास मात्र होगा।

इसीलिए मेरी समझ में इस स्थिति का सही स्वरूप यही है कि इस कारण हम पर एक बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी आती है। हम ऐसा कुछ न लिखें जो उस सामाजिक सत्य के विपरीत जाए, जिसे आधार मानकर ही हम इस क्षेत्र में प्रविष्ट हुए हैं। समय बीत जाएगा, घटनाएँ अतीत हो जाएँगी परन्तु जो कुछ हम लिखेंगे वह कम से कम कुछ दिन तो टिकेगा ही। हमने स्वेच्छा से यह मार्ग अपनाया है तो वाजिब है कि इन 'कुछ दिनों' की ज़िम्मेदारी भी खुले दिल और खुले दिमाग़ से सँभालें। मनचाही बात मनवाकर मज़ा न लें बल्कि विराट सामाजिक सत्य का यत्किंचित साक्षात्कार करने-कराने का संतोष प्राप्त करें।

वस्तुत: 'यथार्थ' चित्रण का नहीं उपासना का विषय है। यथार्थवाद 'बाहिरजामी' की उपासना ही है जिसे तुलसीदास ने 'अंतरजामी' से भी बड़ा कहा है, जिसके बल पर पाहन से प्रभु प्रकट हो जाते हैं।

इस मान्यता के साथ यथार्थवादी हिन्दी कहानी को मैं अपनी छोटी-बड़ी दस कहानियों की यह छोटी सी भेंट बहुत विनम्रतापूर्वक अर्पित कर रहा हूँ।

समझ में नहीं आता कि अपने अभिन्न श्री अजितकुमार का नाम मैं अपने इस प्रथम संग्रह के साथ किस प्रकार संबद्ध करूँ। चलिए यों सही कि इसकी जितनी ख़राबियाँ हैं वे सब उनके माथे। पुस्तक के प्रकाशन का सारा श्रेय श्रद्धेय श्री रामचंद्र टंडन को है।

नाटक विभाग
आकाशवाणी, दिल्ली

ओंकारनाथ श्रीवास्तव

क्रम

कालसुन्दरी

तम्बाकू की पीक मुँह में भरे हुए बाबा अटपटाते हुए कमरे की साँकल हटाकर चबूतरे पर आये। कुएँ की जगत पर बैठे मिसिर दतून कर रहे थे। बाबा ने पीक थूककर कहा—"पाँय लागी मिसिर जी।"

मिसिर कूँची की जीभी बना चुके थे और जीभ साफ़ करने के लिए मुँह में डालने ही वाले थे। हाथों से जरा ठहरने का इशारा करके जीभी मुँह में डाल कर ओअ-ओअ करने के बाद एक कुल्ला पानी अपने नीचे इतने जोर से फेंका कि सारी छिट्टियां उन्हीं के ऊपर पड़ीं। ख़ैर मुँह तो साफ़ हुआ। बोले—"खुस रहो बाबा।"

बाबा रिटायर्ड अहलमद थे। ज़रूरत के अनुसार लोग उनको 'मुंसी जी,' 'पेशकार साहब', 'सरिश्तेदार साहब' और 'मुंसरिम साहब' कहते थे, मगर अपने लड़कों की शादी में उन्होंने जुमले के मुताबिक़ अपने नाम के आगे 'रईस व जमींदार' ही छपवाया था। वैसे वे सबके 'बाबा' थे, मुहल्ले भर के 'बाबा।' और मिसिर बस मिसिर थे—पूरे निठल्ले। विधवा भौजाई कूट-पीस, मांग-जांच कर जो कुछ लाती थी उसे राम का भेजा हुआ समझ कर खा लेते थे लेकिन दाल में नमक ज्यादा होने पर भौजाई को 'चमारिन' से 'बंगालिन' तक बना डालते थे। मिसिर छप्पन के थे, बाबा बहत्तर

के। लेकिन मिसिर ब्राह्मण जो ठहरे और बाबा कायस्थ इसलिए बाबा पैलगी करते थे और मिसिर असीस देते थे। 'पांय लागी मिसिर जी' और 'खुस रहो बाबा' से दोनों निठल्लों का दिन शुरू होता था। एक सरकारी निठल्ला था और दूसरा प्राइवेट—लेकिन ग़ैरसरकारी नहीं।

"और कहो मिसिर जी अबकी बौर कैसा आया है, जंगल तो रोज जाते हो देखते ही होगे। पारसाल तो चटनी की अमिया तक नहीं मिली।"—बाबा ने छेड़ा।

"अब ना पूछो बाबा, मारे बौर के डारें झुक गई हैं। वह अरघान उठी है कि तबियत मस्त हो जाय। राम चही तो अबकी बार आम सड़ेगा—कहाँ तक खाएगा कोई"—मिसिर का चेहरा मस्त हो गया।

"सो कुछ नहीं होने का मिसिर जी, इब्तदा की बातें अब नहीं रहीं। तब कभी ऐसा नहीं होता था कि आम पैदा न हो। और आम बेचना तो पाप मानते थे पाप। अब तो जिनके बड़ी बड़ी बागें हैं वे भी बेचते हैं और चटनी तक के लिए मोल मँगाते हैं।"

तभी एक आवाज़ आई—"ओ कुवाँ पर के लोगो, कोई एक बाल्टी पानी दे दो। एक बाल्टी पानी...."

मिसिर चिल्लाये—"चुप बुढ़िया, सबेरा हुआ नहीं कि 'टिर्र टिर्र' सुरू कर दी।"

बुढ़िया चुप।

मिसिर ने कहना शुरू किया—"हाँ बाबा, अब वे दिन लद गये। घी, दूध आँख में लगाने को नहीं मिलता। मुफत तो आम की कौन कहे, आम की गुठली भी नहीं मिलती। मगर बाबा, जौन अरघान उठी है कि जंगल महर महर कर रहा है।" मिसिर ने किसी तरह अपनी मस्ती फिर लौटा ली।

"बौरों के साथ साथ मिसिर भी बौरा गए हैं" कहते हुए दुर्गा महराज ने बाबा का ध्यान अपनी ओर खींच लिया। बाबा ने दूसरी ओर देखा तो नीम की एक टहनी की सींकें तोड़ते दतून करने की तैयारी करते हुए दुर्गा

महराज हँस रहे थे—बोले—"आदाबरज है मुंशी जी, मैंने कहा कि मिसिर जी भी कुछ कुछ बौरा गए हैं।" दुर्गा महराज कचहरी में चपरासी थे इसलिए क़ायदे से बातचीत करने की कुछ आदत सी पड़ गई थी उनकी।

बहत्तर वर्ष के बाबा भी कम इख़्लाकपसन्द न थे। हालाँकि आदाब के बाद दुर्गा महराज ने उन्हें बोलने का मौक़ा नहीं दिया था फिर भी वे बोले—"बंदगी अर्ज़ है—क्या कहा महराज ?"

मिसिर बीच में बोल उठे—"अरे महराज ही तो हैं जो चाहें कहें।"

इतने में फिर वही आवाज़—"कुवाँ पर के दानी, एक बाल्टी पानी।"

'वारी बुढ़िया' कहते हुए मिसिर उसकी बाल्टी भर देने के लिए उठे।

बाबा के चबूतरे के सामने एक छोटा सा शिवजी का मण्डप था, उससे लगी हुई थी बुढ़िया की कोठरी—और कोठरी के सामने चबूतरा। चबूतरा काफ़ी ऊँचा था इसलिए मुहल्लेवाले उसे 'ऊँचे पर की बुढ़िया,' 'ऊँचे पर की महाराजिन' या सिर्फ 'ऊँचेपर वाली' कहा करते थे। शुरू-शुरू में जब कुछ गहने-जेवर थे उन्हें बेच-बेच कर पेट पालती रही। गहने गए तो उनके साथ जवानी का जोश भी उतरा और पवित्रता आने लगी। गृहस्थों के घरों में पैठ हुई और मांग-जांच कर काम चलने लगा। बुढ़िया पचास से ऊपर न थी लेकिन लट गई थी। इधर साल भर से मोतियाबिन्द हो जाने की वजह से चलने-फिरने से मजबूर थी इसलिए सबेरे से चबूतरे पर बैठकर ज़रूरत की सब चीजों के लिए एक-एक कर हांक लगाते रहना ही उसकी दिनचर्या थी। रोज ही कोई न कोई पसीज जाता था। आज मिसिर की बारी थी। पैरों की धमक और बाल्टी की खड़क से जब यह मालूम हो गया कि बाल्टी भरने के लिए कोई उठा ले गया तो बुढ़िया के जी में जी आया। कुछ कुछ चेहरे की झुर्रियां चिकनी हुईं और वह बोल उठी "सरिस्तेदार साहब हैं क्या ?"

बाबा सुन कर भी चुप रहे।

बुढ़िया फिर बोली—"अरे सरिस्तेदार साहब, एक बीरा तमाखू मेरे लिए भी....."

बाबा ने लापरवाही से कहा—"देखो बनाता हूँ।"

मिसिर अब तक बुढ़िया की बाल्टी कुएं में लटका चुके थे। दुर्गा महराज बोले—"मुंशी जी, मैं कहता हूँ मिसिर की जवानी लौट आई है। देखिए कोई पट्ठा भी क्या इतनी फ़ुर्ती में पानी भरेगा और वह भी बूढ़ा का पानी।"

मिसिर मन ही मन गद्गद हो गए। बनावटी क्रोध दिखाते हुए मुँह फेर कर बोले—"हँसौवा करत हौ महराज ?"

"हँसौवा की कौन बात है, अभी तो साठ के भी नहीं हुए मिसिर जी। जवानी कहीं चली थोड़े गई है। अबकी लगनों में मुंशी जी मिसिर का भी कुछ इन्तजाम होना चाहिए।" दुर्गा महराज ने कहा।

बाबा ने हथेली पर तमाखू रखकर पीटते हुए कहा—"हाँ हाँ क्या हरज है, मिसिर जी तो काफ़ी ज़िन्दादिल हैं।"

बाल्टी भर कर मिसिर बुढ़िया के चबूतरे पर पहुँच गए थे। बाबा ने बुलाया, "मिसिर जी ज़रा यह तमाखू बुढ़िया को दे तो देना।" फिर दुर्गा महराज से बोले—"कहीं डौल भी लगाया है या यों ही ?"

दुर्गा महराज ने वहीं से खड़े खड़े इतने जोर से फुसफुसाकर कहा कि सब कोई सुन ले—"अरे यह क्या है ऊँचे पर वाली।"

अब तक बाबा से तमाखू लेकर मिसिर बुढ़िया को दे रहे थे। आंखों से मजबूर हो जाने की वजह से बुढ़िया के कान जरूरत से ज्यादा सचेत हो गए थे। सब कुछ ध्यान लगाकर सुनती थी। इतना सुनती थी कि देखने की कमी पूरी हो जाय। जो सुना तो आग लग गई देह में। गाली देकर बोली—"मना करो सरिस्तेदार इस दुर्गवा को। हम बुढ़ियों से हँसौवा करना चाहिए इसे ?"

दुर्गा महराज ने बात काटकर कहा—"कौन कहता है तुम्हें बूढ़ी ? ईंगुर ऐसा तुम्हारा मुँह, अभी पचास भी तो पार नहीं किया। और फिर पचास भी क्यों, देखकर तुम्हें कोई तीस के ऊपर तो अन्दाज ही नहीं सकता। दिखाई नहीं पड़ता तो क्या हुआ ? जिन्हें दिखाई पड़ता है वे ही कौन बड़े समझदार हैं ? आंखें खोले टुकुर-टुकुर किया

करती हो जैसे हिरनी का बच्चा और बोलती हो कि बस चिरई के बोल—देखो कितने दुलार से मिसिर तमाखू दे रहे हैं तुमको।"

मिसिर मुँह सिकोड़कर, दूर हटकर, ऐसे खड़े हो गए जैसे बुरा मान गए हों। बुढ़िया अबकी बार गाली देते देते हँस पड़ी, बोली—"बस बस, मेरे सामने चतुरा न करो।"शायद उसे बीस साल पहले की बातें याद हो आईं, शहर के पराग पुरोहित की दुलहिन थी वह। सब उसे पंडिताइन कहते थे। पुरोहित जी चौथी शादी कर लाए थे—बूढ़े हो चले थे। और वह गजोधर कितना सजीला जवान था. . . . फिर वह मस्ती के दिन और रातें, गजोधर का धोखा, जब मामला छिपने लायक न रहा तब पराग पुरोहित ने उसे घर से निकाल दिया। जंगल में सरपत के थूहों के बीच मरी लड़की पैदा हुई। फिर इस मुहल्ले वाले उसे यहाँ ले आए। पराग पुरोहित ने चालीस रुपए की यह कोठरी लेकर उसके नाम कर दी थी और तब से दोनों का कोई सम्बन्ध न था। हाँ इतना संबंध था कि गजोधर के मरने की खबर आई तो पराग पुरोहित ने कहला भेजा कि चूड़ियां न तोड़ना, वे मेरी हैं। तबसे वह चूड़ियां पहनती आ रही थी। एक साथ स्मृतियों का तूफ़ान। उसने आंचल समेट लिया।

बाबा ने शायद अपनी बुजुर्गी के नाते बोलना ठीक नहीं समझा। लेकिन तटस्थता प्रदर्शित करने के लिए चबूतरे पर ही बैठ गए।

बिन्दा बाजपेयी 'श्री रामचन्द्र कृपालु भजु मन. . . .' आदि गुन-गुनाते हुए रस्सी-बाल्टी लिए पानी भरने को चले आ रहे थे। बाबा ने फ़ौरन कहा—"पाँय लागी पंडित जी।"

बिन्दा बाजपेयी ने कहा—"आयुष्मान बाबा।"

"आयुष्मान नहीं अब तो कहो कि जल्दी मर जाओ" बाबा ने माथे की झुर्रियों पर बल देते हुए कहा।

बाजपेयी जी ने बाल्टी कुएँ की जगत पर रख दी और बाबा की ओर मुखातिब होकर कहा—"ना बाबा, मनुष्य योनि बड़े पुण्य के बाद कहीं मिलती है। जितने सुख लूटना चाहो इसी योनि में लूट लो। नहीं तो फिर

वहीं बिना बोल का जानवर बनना होगा जो बेचारा 'राम' का नाम भी नहीं ले सकता. . . . "

मिसिर, बुढ़िया और बाबा बड़े ध्यान से सुनने लगे थे कि दुर्गा महराज ने बात काटते हुए कहा—"अरे छोड़ो भी बाजपेयी इन सब बातों को।" फिर ज़रा सा आंख मारकर कहा—"आज तो कुछ और ही मसला पेश है—ये जो मिसिर हैं न, इनके ऊपर आजकल बड़ी मस्ती छाई हुई है—आमों के साथ साथ ये भी बौरा गए हैं। तो बाजपेयी बस ऐसा करो कि अबकी लगनों में कुछ इनका इंतज़ाम हो जाय।"

पंडित जी मुस्कराये, बोले—"किसके साथ?"

दुर्गा महराज ने ज़ोर से आँख दबाकर हाथ तरेरते हुए बुढ़िया की ओर इशारा किया।

पंडित जी ज़ोर से हंसे—"हाँ हाँ क्या हुआ। पुराणों में पंचकन्याओं का जिक्र है जिनका सबेरे नाम लेने से आदमी तर जाता है. . . . "

बाबा नाम लेने लगे थे—'प्रातहि लीजै पाँच नाम—हरि, बलि, कर्ण, युधिष्ठिर, परशुराम और अहिल्या, तारा, कुन्ती, मन्दोदरी, द्रौपदी।'

पंडित जी ने कहा—"हाँ और ये होंगी छठीं कन्या।"

लोग ज़ोर से हँस पड़े। बुढ़िया ने गालियों की बौछार शुरू कर दी थी। पंडित जी पूछते ही रह गए—"और इनका नाम?"

बाबा ने कहा—"नाम क्या? बस ऊँचे पर वाली!" दुर्गा महराज बात काट कर बोले—"वाह मुंशी जी आप इनका नाम भी नहीं जानते हैं? आधा शहर 'सुन्दारा महराजिन' को जानता है। सुन्दरी है इनका नाम। वाह वाह क्या नाम है—सुन्दरी।"

मिसिर इतने मगन हो चुके थे कि अपने को रोक न सके, बोले—"सुन्दरी नहीं, कालसुन्दरी।"

"कालसुन्दरी सही भाई, जब तुम्हारी ही होकर रहना है इन्हें तब जो चाहो कहो। 'कालसुन्दरी' कोई खराब नाम तो है नहीं।" दुर्गा महराज ने चिपकाया।

मिसिर कटकर रह गए ।

बुढ़िया गालियाँ बकती हुई कोठरी के अन्दर चली गई और किवाड़ इतने जोर से बन्द किये कि उनकी सारी चूलें चरचरा उठीं ।

शाम तक सारी बातें मुहल्ले के लड़कों को मालूम हो गई थीं। हँसी का नया मसाला था, खेल का नया सामान था। मंदिर और बाबा के चबूतरे के बीच की सँकरी गली में सब के सब इकट्ठे हो गए थे और तरह तरह से बुढ़िया को चिढ़ा रहे थे। कोई किसी से पूछ रहा था—'क्यों भाई मिसिर की बरात में चलोगे या बुढ़िया की तरफ से रहोगे ?' कोई कह रहा था कि 'शादी के बाद बुढ़िया गधे पर सवार होकर ससुराल जाएगी।' कोई जाकर बुढ़िया को तम्बाकू देने के बहाने उसके मुँह में धूल झोंक आया था और वह धाराप्रवाह गालियाँ वकबककर मुँह पोंछ रही थी। इतने में लड़कों को एक नया खेल सूझा। सबके सब दो दलों में बँट गये। एक बुढ़िया के नाम पर और दूसरा मिसिर के नाम पर। और कबड्डी शुरू हुई। बुढ़िया के दल वाले 'कालसुन्दरी', 'कालसुन्दरी' कहते हुए दूसरे पाले में घुसते थे और मिसिर के दल वाले 'मिसिर जी', 'मिसिर जी' कहते हुए। खेल जोरों से चल रहा था। इतने में मिसिर अपने घर से बड़बड़ाते हुए निकले—भौजाई को कोस रहे थे 'याद रखो, नादान देवर को दुख दोगी तो नरक में भी ठौर न मिलेगा।' जब भी भौजाई उन्हें घर से निकालती थी वे उसे यही शाप देते थे। अमूमन लड़ाई खाने के वक़्त ही होती थी। आज की शाम की लड़ाई की वजह यह थी कि भौजाई ने भी इस तथा-कथित विवाह की बात सुनी थी और तब से ही वह न जाने क्यों कुढ़ रही थी। शाम को मिसिर को भी न जाने क्या सूझी कि हांडी से थोड़ा सा कड़ुवा तेल निकाल कर अपनी ज़ुल्फ़ें चिकनिया ली थीं। भौजाई ने यह नई हरकत देखी तो आग हो गई। ज्यों-ज्यों लड़कों का शोर बढ़ता गया त्यों-त्यों वह भड़कती गई और उसने आख़िरकार मिसिर को घर से खदेड़कर ही दम लिया।

मिसिर को आते देखकर छोटे छोटे लड़के तो भाग गए। बड़े भला क्यों

डरने लगे। आगे बढ़कर बोले—"वाह मिसिर फूफा, बियाह तय कर लिया और हमको न्योता तक नहीं दिया। अच्छा यह तो बताओ तुम्हारा सहबाला कौन बनेगा?" मिसिर जले हुए थे। डपट कर बोले—"सरम तो नहीं लगती अपने से बड़े के मुँह लगते।"

लड़कों का मज़ाक ख़ाली गया तो कुछ चिढ़ गए, बोले—"ओ हो हो कालसुन्दरी की लाल चुन्दरी का इन्तजाम हो गया है लेकिन हमारी मिठाई की फ़िकर ही नहीं। अच्छा यह तो बताओ आज बुलबुली में यह तेल कहाँ से डाल लाए?"

अब तो मिसिर के मुँह से बेसाख़्ता गालियां निकलने लगीं।

इतने में एक लड़के ने किलकारी लगाई—'बूढ़े मुँह मुहासे।'

लड़के चिल्लाए—'लोग चले तमासे।'

और फ़िज़ा में जैसे लड़कपन छा गया। लड़के चिल्लाते जा रहे थे, मिसिर बड़बड़ाते जा रहे थे और बुढ़िया को भी ज्योंही मौक़ा मिलता था कुछ कुछ शिकायत के तौर पर बोल देती थी। इतने में ही सामने की गली से दुर्गा महराज आते हुए दिखाई दिए। गर्मी की धूप में तपे हुए थे, शोर सुना तो उबल पड़े—"चुप रहो शैतानो। यह क्या आसमान सिर पर उठा रक्खा है।"

सब के सब जहाँ के तहाँ रुक गए। 'बूढ़े मुँह मुहासे' का जवाब नहीं मिला। मिसिर कह रहे थे—'कल के लड़के. . . .' और बुढ़िया तो 'कुलच्छनी' के बाद 'अभागी' कहकर ही रुकी।

दुर्गा महराज का मुहल्ले के लड़कों पर काफ़ी रोब था। सब लड़के एक-एक करके तितर-बितर हो गए। दो-एक ने जाते-जाते दुरगा को मुरगा की बोली सुना दी—कुकुड़ूँ कूँ।

दुर्गा महराज ने डपटकर मिसिर से पूछा—"क्यों मिसिर, यह क्या वाहियात शोर गुल मचा रखा है।"

मिसिर ने ऊँची आवाज़ करके कहा जिससे घर के अंदर उनकी भौजाई भी सुन ले—"अरे वह बंगालिन चैन से एक पहर बैठने तो दे। हर बेर

'निकल घर से', 'निकल घर से।' आज निकल आया हूँ—असिल ब्राह्मन होऊँगा तो अब ससुरी के हाथ का बनाया कभी न खाऊँगा, उपास करूँगा, जान दे दूँगा इसी महादेव के चबूतरे पर।"

दुर्गा महराज कुछ मूड में नहीं थे इसलिए 'हत्तेरी रोज़-रोज़ की लड़ाई की' कहकर झींखते हुए घर के अन्दर चले गए। बुढ़िया कान उटेरे कुछ सुनने के लिए तैयार बैठी ही रह गई। मिसिर शिवाले पर बैठकर गुनगुनाने लगे।

कुढ़न तो थी भौजाई से, बुढ़िया से तो कोई शिकायत थी नहीं जो मिसिर उस शाम उसका पानी न भरते। और भी पानी भरने वाले आते रहे और बुढ़िया रोज़ की ज़रूरत की चीज़ों के लिए गुहार उठाती रही जैसे तमाखू, आग, नमक आदि।

जैसे-जैसे शाम गहरी होती गई मिसिर को भूख लगती गई। लेकिन आज भौजाई ने भी अकड़े रहने की ठान ली थी। थोड़ी देर बाद उनकी सारी आशाएँ क्षितिज के उस पार डूब गईं और निराशा का गहरा अंधकार छा गया। सबके दरवाज़े बंद हो गए। बुढ़िया भी टटोल-टटोल कर अपने चूल्हे से जूझने लगी। मिसिर मारे गुस्से के मन ही मन बौखला रहे थे लेकिन कोई उपाय न सूझता था। आखिरकार थोड़ी देर में म्युनिसिपैलिटी की लालटेन जलाने वाला आता दिखाई दिया तो मिसिर ने ही छेड़ा—"क्यों खयाली, आज कुछ देर कर दी।"

खयाली बोला—"नहीं पंडित अभी तो सिर्फ़ साढ़े सात का टैम हुआ है।"

एक लम्बी साँस लेकर बात बढ़ाने के इरादे से मिसिर ने कहा—"अच्छा खयाली, कितने दिनों से हो मनुसपल्टी की नौकरी में? तलब क्या मिलती है—ऊपर का डौल तो काहे लग पाता होगा।"

मगर खयाली को फुरसत कहाँ। वत्ती जलाकर वह दमभर में मिसिर के सवाल के जवाब में कुछ 'हाँ', 'हूँ' कहता हुआ चला गया।

अब मिसिर कुछ सोच कर उठे और ठिठकते हुए अपने घर की ओर

बढ़े। दरवाजा खटखटाया तो भीतर से भौजाई डपट कर बोली—"को है?"

मिसिर फिर जल गए—गाली देकर बोले—"अरी मैं हूँ—क्या घर से निकाल देगी तो उढ़ना-बिछौना भी खा जाएगी ? समझती होगी कि मैं इससे खाना माँगने आया हूँ। हुँहँ ! ला दे मेरा उढ़ना-बिछौना।"

भौजाई ने बड़बड़ाते हुए दरवाजा खोल दिया और मिसिर किसी तरह दस-पाँच मिनट में अपनी कथरी-कमरी समेट कर घर के बाहर निकल आए। बेचारे क्या क्या सोचकर गए थे लेकिन क्रोध ने सब कुछ चौपट कर दिया। खैर !. शिवाले के चबूतरे पर कथरी बिछाकर लेट गए और एक गाना गुनगुनाने लगे—'जमाना रंग बदलता है।'

बुढ़िया कच्ची-पक्की रोटी सेंककर खा चुकी थी। मिसिर ने गाना शुरू किया तो कान लगाकर सुनने लगी।

गुनगुना चुके तो लगा कि कुछ शांति मिल रही है। एक भजन छेड़ दिया—'बस में होते आ-आ-ए, भगवान भगत के बस में।'

भजन खत्म करते करते थक गए। कुछ सुस्ताने लगे थे कि बुढ़िया बोली—"मिसिर जी, अभी कुछ भोजन नहीं हुआ ?"

उस वक्त मिसिर को शायद दर्द दिल की बात भी उतनी मार्मिक न लगती जितनी बुढ़िया की वह छोटी सी बात लगी। उत्तर में कुछ सोचते हुए सिर्फ 'उँहुं' कहकर रह गए।

बुढ़िया ने कहा—"सतुवा खाओगे ?"

मिसिर ने धीरे से कहा—"हूँ !"

"तो बर्तन ले लो, पानी भर लो, सतुवा और नमक मैं दिए देती हूँ।"

मिसिर ने सब इन्तजाम किया। बुढ़िया ने तीन चुटकी सत्तू और एक चुटकी भर नमक दे दिया। मिसिर जल्दी जल्दी सानकर खाने लगे।

जब थोड़ा ही खाने को रह गया तो मिसिर ने कहा—"क्यों ऊँचे पर वाली, ये कैसे सत्तू हैं ? न जाने कैसा सवाद है !"

बुढ़िया बोली—"आँय सत्तू तो अच्छे-खासे थे। लेकिन रुको मैंने गलती से तुम्हें गोजई का पिसान तो नहीं दे दिया ?"

मिसिर चिढ़ गए—"धत्तेरे की, पिसान खिला दिया—वही तो मैं सोच रहा था कि न जाने कैसा सवाद है।"

बुढ़िया ने कहा—"खैर उसे छोड़ दो, यह सत्तू ले लो, मुँह का सवाद बदल डालो।"

मिसिर ने सत्तू लेकर खा तो लिया लेकिन बुढ़िया के ऊपर झुँझलाते रहे।

दूसरे दिन जब भौजाई मनाकर घर ले गई तब उससे बुढ़िया की बहुत बुराई की कि उसने उन्हें गोजई का पिसान खिला दिया।

दिन बीतते रहे। 'पाँय लागी मिसिर जी' और 'खुस रहो बाबा' से उस गली की रोज़ की ज़िन्दगी शुरू होती। फिर वही बाबा की बुज़ुर्गी, वही दुर्गा महराज के मज़ाक, वही बिन्दा बाजपेयी के प्रवचन, वही मिसिर की मस्ती, वही बुढ़िया की रटन और लड़कों की 'कालसुन्दरी' वाली कबड्डी चलती रही, चलती रही.........

हाँ, एक परिवर्तन हुआ था। वह यह कि अब मिसिर जब घर से निकाले जाते तब बुढ़िया के यहाँ रोटी, सत्तू या कुछ न कुछ पा ही जाते। और खुद भी बदले में जो गालियां भौजाई को दिया करते थे सो बुढ़िया को दे दिया करते।

जब आम की सीकर टपकने लगी तब मिसिर रोके न रुके। शहर में आम मुफ़्त तो खाने को मिल नहीं सकता था इसलिए कोई दूर का रिश्तेदार ढूँढ निकाला और आम खाने के लिए उसके घर, गाँव चले गए।

फिर भी रोज़ के क्रम में कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं आया। बाबा औरों से पैलगी कर लिया करते और फिर उनकी बुज़ुर्गी, दुर्गा महराज के मज़ाक, बिन्दा बाजपेयी के प्रवचन, बुढ़िया की रटन और सब कुछ वैसा ही नहीं तो क़रीब-क़रीब वैसा ही चलता रहा।

वह दिन रोज़ की तरह नहीं शुरू हुआ। बाल्टी कुएँ की जगत पर रखते

हुए बिन्दा बाजपेयी दुर्गा महराज से कह रहे थे—"और फिर इस बार तो महामारी का बड़ा प्रकोप है, पत्रा में लिखा है कि......"

इतने में बाबा ने कमरे से निकल कर तमाखू की पीक थूकी और बोले, "पांय लागी पंडित जी।"

"आयुष्मान बाबा।"

"आयुष्मान नहीं अब तो कहो...."

दुर्गा महराज ने बात काटकर कहा—"हाँ तो क्या लिखा है पत्रा में?"

पंडित जी ने कहा—"तुमने बाबा सुना कि नहीं?"

"क्या? कोई खास बात?"

"अरे यही कि मिसिर जी का देहान्त हो गया।"

"आँय क्या कहा? मिसिर जी ने चोला छोड़ दिया। क्या बात थी? कोई बीमारी-आरामी?"

"हाँ हैजा हो गया था, वही तो मैं अभी कह रहा था कि इस साल पत्रा में महामारी के प्रकोप का जोग बनता है।"

बाबा सिर पकड़ कर बैठ गए—फिर रुक रुककर बोले—"बड़े अच्छे थे बेचारे मिसिर जी, कभी किसी का बुरा नहीं चेतते थे।"

बुढ़िया जो चबूतरे पर आकर बैठ गई थी धीरे-धीरे कोठरी के अंदर चली गई और अन्दर से दरवाजा बंद कर लिया।

शाम को लड़कों की 'कालसुन्दरी' की कबड्डी जमी। लड़के बहुत चीखे-चिल्लाए लेकिन बुढ़िया न बोली तो न बोली। लेकिन बिना कुछ गालियां सुन लिए लड़कों का खेल कैसे पूरा होता, इसलिए एक लड़का—'बूढ़ा तमाखू लोगी?' कहता हुआ उसकी कोठरी में घुसा। कोठरी की देहली की बग़ल में बुढ़िया बैठी हुई थी—सिर लटकाए, एकदम गंभीर। बुढ़िया का जवाब न पाने की वजह से लड़का कुछ सहम सा गया था इसलिए एका-एक मुँह में मिट्टी झोंक देने की हिम्मत न पड़ी। उसने सिर झुका कर देखा

तो बुढ़िया की लाल, सूजी, बेनूर आँखों में कुछ छलक आया था। लड़का चिल्लाता हुआ भागा—"अरे बूढ़ा तो रो रही है।"

सब लड़के बारी-बारी से झाँक कर देख गए कि बुढ़िया सचमुच रो रही है लेकिन किसी की निगाह उसके सूने हाथों पर न पड़ी।

उसने अपनी चूड़ियाँ तोड़ डाली थीं।

बालो और बुन्दे

"अरी मालती, देख आज सात मई है, कल सुशील आएगा। कुछ नाश्ता-वाश्ता बनाकर रख ले। अबकी तो साहब बनकर आएगा मेरा सुशील; हाँ नहीं तो।" सुशील की मां ने आंचल समेटते हुए कहा।

"सो तो अम्मा मैंने पहले ही बनाकर रख लिया है।"

मालती के यह कहते ही सुशील की मां ने उसे डांटा—"ऊँह, तू तो निरी बेवकूफ की बेवकूफ है। अरे, अब तेरा भाई ऐसा-वैसा थोड़े ही है। डाक्टर बनेगा, डाक्टर! आला लगाकर निकलेगा तो बड़े-बड़े कम्पनी के बाबू और बंक के मनेजर हाथ मिलाएँगे; हाँ नहीं तो। वह तेरा बासी नाश्ता जैसे खा ही तो लेगा!"

"ए...अम्मा, मुझे तो डाक्टर से बड़ी घिन लगती है। डाक्टर कोचर को शीला डाक्टर कीचड़ कहती है। कहती है, वह मवाद छूते हैं, सुई लगाते हैं। हाय राम, दया भी नहीं लगती! मेरे सामने तो भइया किसी को सुई कोंचेंगे तो मैं उन्हें रोक दूँगी।"

"चल चल; बड़ी आई है रोकने वाली। देखा तुमने बबुआ की माँ अपनी भतीजी को, सुशील को सुई नहीं लगाने देगी। अरे, उन्हीं सुइयों के जोर पर तो तेरे लिए गहने बनेंगे और फिर कोई अच्छा-सा सुन्दर-सुन्दर दूल्हा वकील बालिस्टर..."

बबुआ की मां ने कहा—"अबकी तो भैया बहुत दिन बाद आ रहा है, जीजी! बहुत दिन से देखा नहीं। बबुआ के बाबू तो सुशील पर जान देते थे। कहते थे कि बबुआ और भइया दोनों डाक्टर होंगे, लेकिन बबुआ तो न जाने क्या पढ़ता है कि कहते हैं कि प्रोफेसर होगा। अच्छा जीजी, क्या प्रोफेसर डाक्टर से अच्छा..."

बात काटकर सुशील की मां बोली—"अजी, डाक्टर का क्या पूछना! देखो डाक्टर घोष को। मोटर पर चलता है। बिना फीस लिये बात नहीं करता। अरे, बातों की फीस लेता है, बातों की। सूट-बूट में लैस मेरा सुशील साहब लगता है; मालूम होता है जैसे लाट साहब हो..."

अच्छे अब तक बोल पड़ा था। कह रहा था—"जीजी का दूल्हा वकील बालिस्टर! हो...हो...वकील बालिस्टर।"

"देखती हो मां अच्छे को, एक झापड़ रसीद कर दूँगी। अभी बहुत चेंचें करता है, पढ़ना होता है तो नानी मरती है।"

"चुप सुअर, कौन है उसकी नानी तेरी?...नहीं चुप बैठेगा, अच्छे! चमार कहीं का! डाक्टर का भाई है तू? तू तो उसका कम्पोटर भी नहीं लगता......!"

"देख मालती, इसे धुले कपड़े पहनाना, नेकर और गैलिस। मुँह तेल लगाकर धो देना। तू भी अपनी सलवार निकाल ले। अच्छे, जा तू शिव-मंगल से कह दे, इक्का लेकर इस्टेशन चला जाएगा कल सबेरे तड़के। सात बजे गाड़ी आती है, तब तक तो सुशील के बाबू सोकर भी नहीं उठते। अबके सुशील से कहूँगी, बेटा कुछ ऐसा कर दे कि चार बजे के बाद इन्हें नींद ही न पड़े; हाँ नहीं तो। तन्दुरुस्ती भी तो खराब होती है।"

बंगू बाबू खाँसते हुए उठ बैठे, बोले—"तन्दुरुस्ती!...तन्दुरुस्ती! अरे तन्दुरुस्ती आराम करने से बनती है कि पहरा देने से?"

बबुआ की मां आधा घूँघट काढ़कर सिमट गई।

सुशील की मां ने कटाक्ष करते हुए कहा—"एजी, डाक्टर के बाप होकर बेकायदे रहोगे तो ठीक नहीं होगा। और जो यह तुम्हारी लाड़ली

है, देखे इसके लच्छन। भाई को बासी नाश्ता खिलाने की तैयारी कर रखी है। हुँह, भूल गई मेरे सुशील की डाँट! कँपकँपी छूटने लगती है सामने पड़ने पर। अब तो बेचारा बड़ा सीधा हो गया है। क्या करे, पराई संगत, सभी को झुकना पड़ता है, नहीं तो मेरा सुशील, ए...ह, गजब का गुस्सा!"

"बस बस, रहने दो अपने सुशील के गुस्से का बखान। सैकड़ों गुस्सा करने वाले देखे हैं। मालती बेटा...कुछ ताज़े खुरमे बनाकर जाली में बन्द कर दो। अच्छे! कहाँ गया बेटा? सुशील दादा के पैर छूना।"

"पैर छूना!" सुशील की माँ तुनुककर बोलीं, "कोई बाम्हन ठहरा मेरा सुशील! बेटा अच्छे; हाथ मिलाकर गुड मार्निंग करना तुम; हाँ नहीं तो।"

बंगू बाबू बोले—"अच्छा भई, गुड मार्निंग ही सही।"

बबुआ की माँ ने फुसफुसाते हुए कहा—"जीजी अब मैं जाऊँगी, कल सबेरे बहुत तड़के आऊँगी भैया को देखने।" ऐसा कहकर उसने सुशील की माँ के पैर छुए और चादर समेटी।

रायबरेली में बंगू बाबू को कौन नहीं जानता! स्वभाव के अच्छे, मिलनसार, हँसमुख, समाज में मान। दो लड़कों और एक लड़की के पिता। न काम, न धंधा! घर के ज़मींदार, कई मकान किराए पर उठे हुए। पक्का हवेली-जैसा मकान रहने के लिए। बाहर 'रायसाहब बाबू बंगेश्वर-प्रसाद श्रीवास्तव, मेम्बर म्युनिसिपल बोर्ड' का साइनबोर्ड लगा हुआ।

बंगू बाबू की पत्नी विशेष सम्पन्न पिता की पुत्री नहीं थीं। पर इससे क्या होता है। अब तो उनका सुशील डाक्टर होने जा रहा है। इस वक़्त उनके पैर ज़मीन पर नहीं पड़ते।

बबुआ की माँ की दशा वैसी नहीं। वह बेचारी पाँच साल हुए विधवा हो गई थी। बबुआ लखनऊ में इंटर फ़र्स्ट इयर में पढ़ता था तब। छैलू बाबू बेचारे थे ही क्या! डाकखाने के एक मामूली क्लर्क, सौ-सवा सौ

की आमदनी ! बबुआ, बीना, बबुआ की माँ और अपना ख़र्च। किसी तरह निभ जाती थी। पास के गाँव में कोई ३० बीघे ज़मीन थी, खाने की किल्लत नहीं उठानी पड़ती थी। बिरादरी की बात थी, बंगू बाबू के यहाँ से अच्छा हेलमेल था। वैसे छैलू बाबू की वज़ेदारी से शहर में किसी को शिकायत नहीं हो सकती थी।

बबुआ इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में पढ़ता है। एम० ए० प्रीवियस का इम्तहान देकर लौटा है। अध्ययनशील इतना कि प्रोफ़ेसर भी धाक मानते हैं। सीधा इतना कि रायबरेली के लोग शक करते हैं कि यह पढ़ता भी है या नहीं।

छैलू बाबू के मरने के बाद खेती अधिया पर उठा दी गई थी। खाने-पीने भर को निकल आता था। पुश्तैनी मकान के दो हिस्से करके एक हिस्से को किराए पर उठा दिया गया था। फ़ंड और बचत का कोई ५०००) फ़िक्स्ड डिपाज़िट में था। इस प्रकार ख़र्च चलता था, लेकिन तंगी से। बबुआ ने एफ़० ए० के बाद घर से एक पाई भी लेना बन्द कर दिया था। ट्यूशन वग़ैरह कर के पढ़ता था। एम० ए० में सर्वप्रथम आने पर उसे यूनिवर्सिटी में जगह मिलने की पूरी आशा थी। प्रीवियस के परचे काफ़ी अच्छे हुए थे। नतीजा अभी नहीं निकला था, परन्तु वह इस ओर से ज़रा भी परेशान नहीं था। हाँ, बीना की उम्र अलबत्ता १५ को पार कर रही थी, इसकी उसे चिंता थी।

सुशील और वह बचपन के साथ खेले हुए थे। कभी-कभी उसकी एम० बी० बी० एस० की पढ़ाई पर रुपया पानी की तरह बहाया जाता देख उसका मन हल्के-हल्के चीख़ता, लेकिन वह अपनी परिस्थितियों की जानकारी अच्छी तरह से रखता था। अपने अध्ययन की आग को सादगी की राख में छिपाए-छिपाए उसे संतोष था।

आठ मई की सुबह।

अच्छे को मार-मार कर नहलाया गया था और तेल लगाकर, मुँह

धोकर गैलिसदार नेकर पहनाई गई थी। वह रो रहा था। मालती अपनी रेशमी सलवार और दुपट्टे में गुड़िया बनी हुई थी। सुशील की माँ ने पैर धोए थे। बंगू बाबू चारपाई पर करवटें ले रहे थे। पाँच बजे ही शिवमंगल को खटखटाया गया था। अब तक तो वह स्टेशन पहुँच चुका होगा। बबुआ की माँ उपस्थित थी। आज बीना भी आई थी, सादी सफ़ेद धोती और सूती छींट का ब्लाउज़ पहने। बबुआ नदी नहाने गया है, आता ही होगा।

इक्का खड़खड़ाया, मालती चिल्लाई। अच्छे रोना भूलकर दौड़ा तो फिसल कर गिर पड़ा। फिर उठा, बाहर देखा—दूसरा इक्का था। लौटा तो चोट की याद आ गई, फिर से रोने लगा। मालती अब तक बाहर पहुँच चुकी थी, सुशील की माँ एक विशेष प्रकार की मुखाकृति बना रही थीं। बंगू बाबू लेटे-लेटे बोले—"अरे अभी तो सात बजे हैं, लेट न होगी तो गाड़ी अब आई होगी, कुछ दस-पन्द्रह मिनट लगेंगे ही आते-आते।"

किसी ने कोई जवाब नहीं दिया। बंगू बाबू ने करवट बदल ली। बबुआ की माँ खड़ी हो गई थीं; आँचल समेट कर फिर बैठ गईं। मालती ने बाहर से लौटकर कहा—"दादा नहीं आए।"

सुशील की माँ ने डाँटा—"चुप मुँहजली कहीं की! अभी शिव-मंगल का इक्का कहाँ लौटा! गाड़ी बहुत लेट आती है कभी-कभी। आज सुशील आएगा ज़रूर, मेरी आँख फड़कती है। क्यों बबुआ की माँ, तुम्हारी भी फड़कती है न?"

बबुआ की माँ ने 'हाँ' कहा और आँखों पर हाथ फेरा कि अरी कुछ तो फड़क जा।

"जब सुशील को आना होता है तब मेरी आँख चार-पाँच दिन पहले से ही फड़कने लगती है और मैं जान जाती हूँ कि मेरा सुशील आ रहा है।" यह कहते हुए सुशील की माँ ने आँखें मुलमुलाईं।

मालती बोली—"अम्मा, तुम्हारी आँख तो चार दिन पहले से फड़कती है, आज तो पहला दिन है।"

"चुप! कानून निकालती है? चार दिन से आँख फड़क नहीं

रही है तो और क्या हो रहा है? जैसे मैं झूठ ही तो कहती हूँ; हाँ नहीं तो!"

सुशील की माँ अबकी फीकी पड़ गई थीं। उन्होंने एक प्रश्नसूचक दृष्टि से बबुआ की माँ की ओर देखा। बबुआ की माँ ने हल्की साँस खींचकर सिर हिलाया। सुशील की माँ को संतोष हुआ, बोलीं—"देखो बबुआ की माँ, गाँठ बाँध लो। जब बाईं आँख फड़के तब कोई आएगा, दाईं आँख फड़के तब कुछ बुरा होगा। हाथ से जाँत छूट जाए तो किसी की चिट्ठी आएगी। बर्त्तन छूट जाए तो बड़ा असगुन होता है! क्या कहूँ..."

"अरे जीजी, ये भी कोई बताने की बातें हैं! बबुआ के बाबू जब बीमार हुए मेरी दाईं आँख एक मिनट के लिए नहीं थमी, चौबीसों घंटे फड़कती रही। आखिर तीन ही दिन में सब खतम हो गया," बबुआ की माँ ने धीरे-धीरे कहा जिससे कि बंगू बाबू सुन न लें। उसके मुख पर विषाद की रेखा दौड़ गई। सुशील की माँ को असगुन होता जान पड़ा। वह बोल उठीं—"अरी मालती...ओ मालती! देखते हो। मैंने कहा... सुनते हो!...देखो मालती कहाँ गई!"

"अरे, मालती गई कहाँ जो ज़मीन-आसमान एक किए देती हो? बाहर होगी। बेटा मालती!" बंगू बाबू ने मालती को पुकारा। दूर से 'जी आई' कहती हुई मालती आकर खड़ी हो गई।

बंगू बाबू ने कहा—"बड़ी रानी बिटिया, देख घर ही में रहना, तेरा दादा आता ही होगा।"

अच्छे दौड़ता हुआ आया—"दादा आ गए! दादा आ गए!" सब एकदम बाहर की ओर दौड़ पड़े। बबुआ की माँ ने चादर सम्हाली। बीना माँ से सटकर चली। मालती थोड़ी शान से चली, फिर आगे बढ़ी। सुशील की माँ अब तक दरवाज़े तक पहुँच चुकी थीं। बंगू बाबू बनियान पहन कर सोए थे, कमीज़ सिरहाने से उठाकर पहनने लगे।

दहलीज पर से खड़े-खड़े सब ने देखा, कहीं इक्का न था। सुशील

की माँ ने खिसिया कर कहा—"क्यों अच्छे, झूठ बोलता है? सुअर कहीं का!"

अच्छे चिल्लाया—"नहीं अम्मा, मैं चौड़ी सड़क पर से देख आया हूँ। शिवमंगल के इक्के पर दादा आ रहे हैं। अच्छा, शर्त लगाओगी?"

तब तक इक्का घर की ओर मुड़ा। सबने देखा, एक सीट पर प्रसन्न-वदन हृष्ट-पुष्ट सुशील बैठा है। सफ़ेद कमीज़, सिर पर हैट। आँखों पर धूप का चश्मा लगा हुआ था, लेकिन मुँह कुछ ऐसा हिल रहा था कि आँखें भीतर से ही हँसती हुई दिखाई पड़ रही थीं। सामने की सीट पर क्रोको-डाइल का एक सूटकेस, उसके ऊपर होल्डाल, बगल में चमड़े का अटैची केस...

अच्छे और मालती एक साथ चिल्ला उठे—"दा...दा!" सुशील ने शिवमंगल के नज़दीक मुँह ले जाकर कुछ कहा—इक्के की घड़घड़ में कुछ सुनाई न पड़ता शायद इसीलिए—और झटके से इक्के से उतर पड़ा। शिवमंगल की आँखों में भी विजयोल्लास-सा नाच रहा था। वह जैसे सोच रहा था कि भैया के आने में बहुत-कुछ हाथ उसका भी है। सुशील ने बटुए से एक अठन्नी निकाल कर उसके हाथ में रखी। शिवमंगल ने खुशी से अठन्नी ली, उसके मुख पर कुछ निरर्थक संकोच की मुद्रा थी, कुछ 'नाथ आज मैं काह न पावा' का सा भाव था। टेंगन और परभू लपक कर सामान उतारने लगे। सुशील ने कहा—"ओ परभुआ, देख हौदे में डोलची रखी है, सम्हाल कर उतारना, चाय के बर्त्तन हैं, टूट न जाएँ।"

अच्छे और मालती पहले तो खुशी से चीखे थे, पर अब उन पर भी काड्रायि के पैंट और क्रेप सोल के जूते का रोब पड़ चुका था। दोनों सहमे खड़े थे। मालती ने सीधे बोलने की तो हिम्मत नहीं की, अच्छे को डाँटा—"दादा के पैर छुओ।" अच्छे ने कहा—"तुम न छुओ।" मालती ने कहा—"मैं क्यों छुऊँ? कहीं लड़कियाँ पैर छूती हैं? फिर मैं तो बड़ी हूँ।"

अच्छे ने बात काटकर कहा—"बड़ी नहीं, सड़ी हो।"

तब तक बंगू बाबू धोती की लाँग ठीक करते हुए बाहर आ गए।

सुशील ने आगे बढ़कर पैर छुए। बंगू बाबू बोले—"आ गए बेटा! परभुआ, सामान अन्दर ले जा। शिवमंगल, तुम्हें पैसे मिल गए?"

"हाँ बाबू जी!"

"ठीक है। चलो बेटा, अन्दर चलो। अच्छे, दादा के पैर छुए?"

"अम्मा ने तो कहा था..."

"क्या कहा था?"

"भूल गया।"

सुशील ने आगे बढ़कर अच्छे के गाल पर एक अंगुली से गुदगुदाया। मालती के एक टीप मारकर घर के अन्दर घुसा। माँ के पैरों पर झुका तो उन्होंने अपने पैर बढ़ा दिए। बोलीं—"बड़ा दुबला हो गया, बेटा! पहचाना नहीं जाता। लखनऊ की आबहवा अच्छी नहीं मालूम होती।"

तब तक बबुआ की माँ की ओर देखकर सुशील बोला—"ओ हो, चाची तुम? नमस्ते। बबुआ कहाँ हैं? अब तो फ़ाइनल में गए होंगे।"

बबुआ की माँ आँखों ही आँखों असीसकर बोली—"मैं क्या जानूँ बेटा? उसी से पूछना, वह भी तो आया है तीन-चार दिन हुए। अभी तुम्हारी पढ़ाई कितनी और चलेगी?"

"बस एक साल और, चाची!"

"तो एक साल में तू डाक्टर हो जाएगा, सुशील? तब तू सोने के कलम से लिखा करना; अच्छा! डाक्टर घोष सोने की कलम से लिखता है," सुशील की माँ ने बातचीत में दाख़िल होते हुए कहा।

"सो तो अम्मा, मैं अभी लिखता हूँ, यह देखो।" सुशील ने जेब से गोल्ड-कैप पार्कर निकाल कर दिखलाया।

"हाँ, यही। कितने का मिला बेटा?" माँ ने गर्व से पूछा।

"यही, साठ-सत्तर का होगा। ठीक से याद नहीं कितने का लिया था। अरे, बिना क़लम के ऊँचे दर्जों में काम ही कहाँ चलता है।"

अब तक अम्मा के हाथों से पार्कर मालती के हाथों तक पहुँच चुका

था। वह चाची को दिखाकर कह रही थी—"यह दादा का क़लम है, सत्तर रुपये का!"

बबुआ की माँ सुन रही थी कि ऊँचे दर्जों में इसके बिना काम ही कहाँ चलता है!

बीना अपनी सफ़ेद धोती और सूती छींट के ब्लाउज़ में सिमटी जा रही थी। सुशील बोला—"और यह बीना है, कितनी बड़ी हो गई?"

बीना के कान लाल हो गए।

सुशील की माँ बात काटकर बोली—"अरी मालती, कुछ नाश्ता-पानी ले आ। टेंगना, भैया का बिस्तरा बिछा दे; रात-भर का जगा होगा।"

"कमाल करती हो अम्मा, कौन लन्दन से आ रहा हूँ। चार बजे तक तान कर सोता रहा। गाड़ी साढ़े पाँच बजे आती है। चलने के पहले होटल में नाश्ता भी डट लिया था, भगवत और केशव स्टेशन तक पहुँचाने आए थे।"

अब तक अच्छे और मालती में क़लम की बात पर लड़ाई शुरू हो गई थी। अच्छे कहता था, दादा मेरे हैं, क़लम मैं लूँगा। न जाने क्यों, मालती इसका विरोध नहीं करती थी, बस इतना कहती थी कि मैंने तो अम्मा से लिया है तुम्हें क्यों दूँ। सुशील ने सुना तो कहा—"अच्छे! चल यहाँ, ले मैं तुझे घड़ी देता हूँ, क्या करेगा क़लम? अभी तो लिखता भी नहीं। अम्मा! यह घड़ी तुमने खूब भेजी। बिना घड़ी के तो एक मिनट भी काम नहीं चलता और फिर ऊँचे दर्जों में।"

बबुआ की माँ सब कुछ चुपचाप सुन रही थी।

सुशील ने सीटी बजाते हुए अच्छे की कलाई में किसी तरह चेन खींचकर घड़ी अटका दी। अब वह कभी घड़ी की ओर देखता, कभी मालती के क़लम की ओर। मालती की भी दशा कुछ ऐसी ही थी।

सुशील ने अम्मा के सामने चाबी फेंक कर कहा—"बक्स खोलकर मालती के लिए रंगों का डिब्बा और अच्छे के लिए किताबों का बस्ता निकाल

लो। कुछ लखनऊ की खुटिया भी हैं, डोलची में, नीचे। कुछ दशहरी लाया हूँ, अभी फ़सल आई नहीं, अच्छे नहीं मिले।"

सुशील की माँ बड़े मनोयोग से बक्स खोलने लगीं। बबुआ की माँ को फिर मौक़ा मिला—"खाना तो होटल में खाते होगे भैया!"

"और नहीं तो क्या चाची, वहाँ कौन बैठा है जो बनाकर खिलाएगा!"

"बड़ा खर्च होता होगा?"

सुशील ने कुछ सोचते हुए कहा—"हूँ।"

बबुआ की माँ ने घर लौटकर दाल धोकर चढ़ाई। बीना से कहा—"अमिया छीलकर दाल में डाल देना", और आप चावल बीनने लगी; एक-एक तिनका निकालने लगी ग़ौर से। सिर एक घुटने पर टिका हुआ—बायाँ हाथ पंजे के ऊपर और दायाँ फूल की थाली पर मशीन की तरह दौड़ता हुआ। इतने में बाहर से पैरों की चाप सुनाई दी—दरवाज़ा खटका। बीना छुरी और अमिया एक ओर रखकर दरवाज़े की ओर चली। थोड़ी देर में एक नवयुवक ने प्रवेश किया। खद्दर का कुर्ता, मोटिया मिल की धोती। पुष्ट, किन्तु कृश शरीर। चेहरा रूखा, किन्तु इरादे की झलक से चमकता हुआ। हाथ में एक झोला।

माँ देखते ही बोल उठी—"बबुआ, बड़ी देर की। सुशील आ गया। तुझे पूछ रहा था। यह लौकी क्या नदी पर से ले आया?"

बबुआ ने लौकी निकाल कर बीना के हाथ में रखी और कहा—"झोले में धोती है, झिटक कर अरगनी पर फैला दो। हाँ, आज कुछ देर हो गई। यों भी मैंने सोचा कि तुम्हें बंगू चाचा के यहाँ कुछ देर तो हो ही जाएगी।"

"अभी आई हूँ, तुझे बड़ी भूख लगी होगी। अरी बीना, कल वाला तरबूज अभी काटा नहीं गया, ले तो आ। आज कुछ खुरमे बनाकर हँड़िया में रख देना, अच्छा।"

बीना चुपके से अन्दर चली गई। एक थाली में तरबूज़ और छुरी

लाकर बबुआ के सामने रख दी। बबुआ ने कहा—"वाह री बीना! अरे न तरबूज धोया न छुरी। अम्मा, तुम इसे सफ़ाई क्यों नहीं सिखातीं?"

"तुझे ही क्या सिखाया था जो आज बड़ा सफ़ाईपसंद बना बैठा है! सीख ही लेगी। जा बीना, तरबूज धो डाल। भला एक बात कहूँ बबुआ, अभी तू कब तक पढ़ेगा?"

"अधिक से अधिक एक साल और। क्यों, क्या बात है?" बबुआ ने पूछा।

"कुछ नहीं, यों ही; तो अबकी बी० ए० पास हो जाएगा?"

"बी० ए० नहीं, एम० ए०।"

"ए० मे०?"

"हाँ, एम० ए०।"

"तो अभी बी० ए० पास करने में कितने दिन हैं?"

"अरे, तुम भूल गईं। बी० ए० तो मैं पारसाल ही पास कर चुका हूँ।"

"तो तुम ऊँचे दर्जे में पढ़ते हो कि नीचे में?"

"ऊँचे, यूनिवर्सिटी के सब से ऊँचे में।"

"तुझे बड़ी तकलीफ़ होती होगी, बेटा!"

"अरे यह क्या? रोती हो अम्मा?"

बीना हतज्ञान-सी तरबूज़ की थाली लाकर खड़ी हो गई। बबुआ ने कुछ सोचते हुए इशारे में कहा कि 'ले जाओ।'

अबकी बार बबुआ को इलाहाबाद आकर निश्चिन्त होने में कोई खास दिक़्क़त नहीं हुई। लगी हुई ट्यूशनें थीं, फ़ीस पहले से माफ़ थी, वजीफ़ा मिलता ही था। पढ़ने वाले लड़कों को और चाहिए ही क्या? उसके जीवन में अभी तक यौवन की उन भूलों ने भी प्रवेश नहीं किया था जो अनायास ही युवकों के जीवन को दुःखमय, स्वप्नमय और अजीब

दार्शनिकों जैसा बना देती हैं। अधिकांश साथी उसकी इस उदासीनता पर व्यंग्य करते थे—"अरे, मालती मेहरा से कम्पिटीशन है। वह किसी को लिफ़्ट कब देती है, और यह बुद्धू है कि जब बोलेगा तब उसके किसी सवाल के जवाब में ही, वर्ना इसे तो 'हलो' कहना भी पहाड़ हो जाता है।" बबुआ को इन सब बातों को सुनने की फ़ुर्सत नहीं थी। फिर उसे तो प्रोफ़ेसर चन्द्रकुमार वर्मा बनना था और उसे उस भावी प्रोफ़ेसर की इज़्ज़त का हर वक़्त ख़याल रहता था। इसलिए आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त होते ही उसने पूरे ज़ोरशोर से पढ़ाई शुरू कर दी। होस्टल में अगस्त मचा हुआ था—कहीं संगीत-गोष्ठी, कहीं इलेक्शन और कहीं कुछ। परन्तु चन्द्रकुमार के कमरे में अप्रैल था।

इस लगन से पढ़ाई शुरू हो जाने में उसे संतोष था। इधर बीना की लिपि में माँ के लिखाए हुए जो पत्र उसे मिलते थे उनसे भी उसे एक प्रकार का सम्बल मिलता था। हर पत्र की बात लगभग एक-सी रहती थी—'बबुआ, खुश रहो। अब तुम ऊँचे दर्जे में पढ़ते हो। तुम किसी प्रकार की तकलीफ़ न उठाना। अपनी ज़रूरत की चीज़ें ख़रीद लेना। एक साल की बात है, कोई संकोच की ज़रूरत नहीं है। जब ज़रूरत हो लिखना, रुपए भेज दिए जाएँगे' आदि आदि। बबुआ सोचता कि माँ का स्नेह शायद यह सोच कर उमड़ पड़ा है कि वह बेचारी अपनी ओर से मुझे कोई सहारा न दे सकी और मैंने ख़ुद ही अपनी नाव खे ली। इससे उसे एक विचित्र प्रकार की अनुभूति मिलती और वह बड़े विनम्र शब्दों में पत्रों के उत्तर दे दिया करता। परन्तु जैसे-जैसे दिन बीतते गए, पत्रों में विवशता और करुणा की मात्रा बढ़ती गई। बहुत कोशिश करने पर भी बबुआ इन पत्रों का उस विशेष आदर-सत्कार से कोई घनिष्ट संबंध न जोड़ सका जो अब की बार गरमियों में उसे मिला था। पिछले साल पड़ोसियों द्वारा लिखाई हुई चिट्ठियों में बीना की शादी का ख़ास ज़िक्र होता था और बबुआ की तकलीफ़ों का कम। कभी-कभी बेचारा खीझ उठता कि हाय रे भाग्य, कोई सिर पर हाथ रखने वाला भी नहीं, तिस पर ये ज़िम्मेदारियाँ! परन्तु

अबकी बार जब इस विषय में माँ ने कोई बात न लिखी तब उसका मन उसी पर और अधिक सचिंत हो रहा।

अगस्त ज्यों-त्यों टला। सितम्बर भी बीत चला। दशहरे की छुट्टियाँ आ गईं !बबुआ का मन तो नहीं था, पर माँ का आग्रह था। वह घर जाने के विषय में कोई निश्चय नहीं कर पा रहा था। परन्तु जब उसे एकाएक ७०) का मनीआर्डर मिला कि अपने लिए घड़ी और क़लम खरीद लो, बड़े दर्जों में इसके बिना काम ही कहाँ चलता है, तब वह मन ही मन हँस पड़ा। उसने सोचा—देखो तो माँ को, बीना बेचारी के पास एक गहना भी नहीं और उन्हें मेरे लिए घड़ी और क़लम की पड़ी है। और फिर ये रुपये भी तो उसी की शादी के हिस्से के होंगे। दो दिन इसी उधेड़बुन में रह कर उसने घर जाने का निश्चय कर लिया।

बबुआ की चिठ्ठी आ गई थी कि वह अबकी दशहरे पर आएगा। घड़ी और क़लम का कोई जिक्र नहीं था। माँ ने सोचा, चलो अच्छा है, जब आएगा तभी देखूँगी। छुट्टियाँ ४ तारीख से थीं, उम्मीद थी कि ५ को सबेरे बबुआ ज़रूर आएगा। कुछ नाश्ता बनाकर रखा गया और शिवमंगल से एक दिन पहले ही कह दिया गया कि गाड़ी बहुत तड़के आती है, जल्दी स्टेशन चले जाना। कहने का मतलब यह कि यह विश्वास करके कि बबुआ भी ऊँचे दर्जे में पढ़ता है, उसके शाही स्वागत की पूरी तैयारियाँ की गईं। और वह इसका अधिकारी भी था। परन्तु कमी थी तो इतनी कि कोई मिलने-जुलने वाला यह समारोह देखने के लिए न था और बबुआ के बाबू.....

पाँच अक्तूबर की सुबह।

बबुआ की माँ को रात भर अच्छी नींद नहीं आई थी, इसीलिए सबेरे कुछ ऊँघ गई। साढ़े चार बजे बीना ने जगाया—"अम्मा उठो, गाड़ी आ गई होगी। दादा आते ही होंगे।"

बबुआ की माँ हड़बड़ा कर उठी और हाथ-मुँह धो कर दरवाजे की चौखट पर खड़ी भर हुई थी कि इक्का खड़खड़ाया।

कुर्ता-धोती पहने बबुआ ने उतर कर माँ के पैर छुए, फिर शिवमंगल को पैसे दिए और अटैची हाथ में लेकर घर में प्रवेश किया। माँ पीठ पर हाथ फेरना छोड़ आशीर्वाद देना भी भूल गई। बीना ने नमस्ते की, बबुआ ने जवाब दिया।

माँ ने कहा—"बेटा! कलम और घड़ी तूने नहीं लगाई। अभी नहीं खरीदी क्या?"

बबुआ ने कहा—"अरी अम्मा, छोड़ो भी इन बातों को, क्या झक तुम्हें सवार हुई है! हम खून जलाकर पढ़ते हैं, घड़ी और क़लम से नहीं। और फिर, बीना इतनी बड़ी हो गई है। तुम सोचो, यह वक़्त कलम और घड़ी का है। यह चाबी लो, बक्स खोलकर बीना के लिए सोने के बुन्दे निकाल लो, दस आने भर हैं। बीना, ज़रा एक दरी बिछा दे, मैं रात भर का जगा हूँ; बड़ी थकान लग रही है।"

बीना कमरे की ओर चली गई।

बबुआ की माँ ने एक विवश संतोष की साँस लेकर अपने सूने कानों पर हाथ फेरा। रुपये कान की बालियाँ बेचकर भेजे गए थे।

दिदिया

तपता जल रहा था। बांके पुरोहित मुहल्ले की कुछ बूढ़ियों से बातें कर रहे थे। पंडित जी कुछ अपनी जवानी के दिनों की डींगें हाँक रहे थे कि तब वे जाड़े को भुनगा भर भी नहीं समझते थे। चार बजे सबेरे उठकर नदी नहा आना तो मामूली बात थी, लेकिन अब तो पौरुष थक चुका है, जुकाम-खांसी घेरे ही रहती है....

बांके महराज कह रहे थे, "लेकिन जब से बिन्दो की अम्मा मरीं अपंग हो गया, कमजोरी आ गई और अब तो चलाचली का वक्त आ गया है।" यह कहकर उन्होंने अपने गरम हाथ मुँह पर रखकर गालों को दबा दिया, फिर बोले—"क्यों सीतल की अम्मा, आज जाड़ा सचमुच ज्यादा है कि मुझे ही लगता है?" यह कहकर उन्होंने नाती को आवाज दी— "अरे ओ छोटे, ज़रा यहाँ तो आना।"

सीतल की अम्मा बोलीं—"नहीं जाड़ा ज्यादा है ही। अब मकर के पचीस लग गए—

धन के पन्द्रह, मकर पचीस
चिल्ला रहै दिना चालीस,

बस अब कुछ ही दिन जाड़ा और है।"

बांके हँस पड़े थे, बोले—"हूं. . .हूं. . .चिल्ला के जाड़ों में वह खूब चिल्ले बना बनाकर खिलाती थी, मूँग, मोथी, अरहर, चना सभी के चिल्ले बनाती थी। अब तो दाँत भी नहीं रहे........."

छोटे आकर खड़ा हो गया था। और छोटे को पुकारे जाने की आवाज़ सुनकर पड़ोस से सीतल का लड़का लल्लू भी निकल आया था। छोटे ने कहा—"क्या है नाना?"

बांके—"जा बेटा, थोड़ी तिलसेठी और ले तो आ।"

छोटे और लल्लू दोनों कूदते हुए बरोठे से तिलसेठी निकालने चले गए। रानी महराजिन, जिन्हें अभी तक बोलने का मौक़ा नहीं मिला था, बोल उठीं—"औ सिउरानी आज कहाँ हैं?"

बांके पुरोहित की नातिन, छोटे की बड़ी बहिन, किशोरी अब तक नहीं बोली थी, अब बोल उठी—"दिदिया आजकल तगादे बहुत जाती हैं।"

रानी महराजिन बोल पड़ीं—"ना छोटे लुकाठी न खेलो नहीं तो चारपाई पर मूतोगे।"

बांके महराज ने छोटे को ज़ोर से घुड़का। किशोरी ने धीरे से कहा—"अभी कल रात को भी इन्होंने चारपाई पर मूता था।"

लल्लू छोटे को 'परमुतना' कहकर चिढ़ाने लगा। छोटे ने किशोरी के सिर में एक टीप मार दी। किशोरी चोट नहीं परन्तु अन्याय से पीड़ित होकर रोने लगी।

मगर तब भी लल्लू पर क़ाबू पाना आसान नहीं था, वह चिढ़ाए ही जा रहा था। लाचार होकर छोटे रोने लगा। किशोरी पहले से ही रो रही थी। बांके मचिया छोड़ कर भला क्यों उठते? तब छोटे को मनाता कौन? छोटे को रोता देख लल्लू भी चम्पत हो गया।

छोटे ज़मीन पर लेटा हुआ हाथ-पैर पटक-पटक कर रोए ही जा रहा था इसलिए नहीं कि रुलाई आ रही थी बल्कि इसलिए कि कोई मनाने वाला उठ नहीं रहा था।

लाठी टेकती हुई टटोलती-टटोलती शिवरानी आईं, शायद छोटे को देखा नहीं; उसकी रोने की रफ़्तार भी कुछ मद्धिम हो चली थी। शिवरानी को आगे बढ़ता देख छोटे बुमकार छोड़कर रोया—'दिदिया...आं... आं...आं...'

शिवरानी घूम पड़ीं—"अरे छोटुवा काहे रोता है रे, को मारा, आ उठ, गोदी ले लूँ।"

छोटे उठकर गोदी चढ़ने लगा तो शिवरानी बोझ न सँभाल पाईं। वहीं बैठ गईं।

रानी ने कहा—"इधर आ जाओ दिदिया।" और तपते के किनारे उनके बैठने भर को जगह खाली कर दी।

शिवरानी ने कहा—"हाँ बेटा छोटे चल तपता के पास, जरा हाथ सेंक लूँ। जड़ा गई हूँ।"

छोटे अब तक चुप हो गया था।

शिवरानी मुहल्ले भर की 'दिदिया' थीं। कब और कैसे वे आकर बांके महराज के साथ रहने लगी थीं इसे सारा मुहल्ला भूल चुका था, हमें भी नहीं मालूम। इतना सभी जानते थे कि शिवरानी एक अरसे से बांके महराज के घर में रहती आ रही थीं। शायद गाँव के रिश्ते से बड़ी बहन लगती थीं इसीलिए बांके महराज उन्हें 'दिदिया' कहते थे और इसीलिए सारा मुहल्ला भी 'दिदिया' ही कहता था। और बांके का परिवार भी विचित्र था। पत्नी, हां, कभी थी लेकिन अब तो वह बीस साल पहले की बात थी। सिर्फ़ एक लड़की बिन्दो हुई थी। बुढ़ापा काटने के लिए घर-जमाई किया था, लेकिन कोई सात साल हुए, वे दोनों भी चल बसे थे। और रह गई थीं उनकी दो निशानियां किशोरी और छोटे। दोनों को जो भी लाड़-प्यार मिल सका वह शिवरानी से ही मिला था। शिवरानी कोई दो-ढाई सौ रुपया लेकर आई थीं और उसे अब तक सूद पर चलाती आ रही थीं जिससे वह रुपया भी अब तक काफ़ी बढ़ गया था। कुछ गहने भी बन गए थे और खाने-पीने का खर्च भी चल रहा था। बांके पुरोहिती करते थे।

पड़ोस सीतल का था। बड़ा अच्छा अधेड़ उम्र का ब्राह्मण था, सबकी मुसीबत के वक़्त हाजिर रहता था। पोस्टमैन था।

सीतल की माँ ने पूछा—"कहाँ कहाँ हो आई दिदिया?"

"कहीं नहीं यहीं जरा मुरइया टोला तक हो आई।"

"तगादे गई थीं?"

"हाँ।"

"कुछ असूल-तसील हुआ?"

"नाहिं, सब के सब सोचते हैं कि कब बुढ़िया की आंखें मुँदें और कब रुपया उनके बाप का हो जाय; लेकिन सीतल की अम्मा, इतना बताए देती हूँ कि बिना पाई-पाई असूल किए मरूँगी नहीं।"

बांके महराज ने पूछा—"किसका-किसका बाकी है?"

"ज्यादा तो बस गनेसवा मुराई का है। पांच बीसी और सात रुपया। तीन बीसी और चार हैं जुड़ावन खटिक के पास। बाकी तो चार-चार, पाँच-पाँच वाले हैं, चतुरी पासी, बकरीदी मियाँ और भगान लोध। और सबने तो कल चुकता करने को कहा है लेकिन गनेसवा कहता है कि अभी बाड़ियों की बिक्री नहीं हुई, अभी नहीं देगा। मैं तो कह आई हूँ कि कल नहीं देगा तो उसी के कुआँ में पाँव डाल कर बैठूँगी, गुहार मचाऊँगी, देखती हूँ कैसे नहीं देता।"

बांके महराज ने तैश में आकर कहा—"देगा कैसे नहीं, कोई ठट्ठेबाजी है, घर फुँकवा दूँगा साले का अगर इधर-उधर की तो।" फिर नरम होकर समझाने लगे—"मगर दिदिया जल्दी कौन है? ठीक ही तो कहता है बिचारा। बाड़ियों की बिक्री के बिना आखिर देगा भी तो कहाँ से? मेरी समझ में तो तुम गुहार-उहार न उठाओ, चुपाई मार के बैठो, सब असूल हो जायगा।"

इधर दिदिया का स्वभाव बड़ा चिड़चिड़ा हो गया था—तड़प कर बोलीं—"हां हां बांके, मैं तुमको आज से थोड़े देख रही हूँ, नस-नस पहचानती हूँ तुम्हारी। तुम यही चाहते हो न कि बुढ़िया मरे किसी तरह और उसका

पैसा तुम असूल करके मजा करो, सो मैं कुछ नहीं होने दूँगी। इतने दिन तुम्हारे साथ रही हूँ लेकिन तुम्हारी एहसानमंद नहीं हूँ।"

बांके भी बूढ़े थे। कम चिड़चिड़े नहीं थे। दिदिया को उखड़ते देखा तो खुद भी उखड़ गए। डपट कर बोले—"दिमाग खराब है क्या? वाहियात की झाँय-झाँय शुरू कर दी। कोई बात ठीक-ठीक तो समझती ही नहीं।"

दिदिया कब मानने वाली थीं—"सब समझती हूँ, मेरा मुँह न खुलवाओ। जजमान ने लकड़ी दी थी तो ढोवाई मुझसे छः रुपया माँग कर दिया था, आज कितने महीने हुए—दिए फेर के मेरे रुपए और . . ."

बांके ने घुड़क कर कहा—"चुप।"

कहासुनी सुनकर सीतल दौड़ आया। तब तक दिदिया भनभनाती हुई घर के अन्दर चली गई थीं। सीतल ने कहा—"क्या बात है बांके नाना?"

बांके ने कहा—"बात क्या है, ये दिदिया हैं। इतना माया-मोह इन्हें सताता है कि क्या कहूँ? गनेस मुराई कुछ रुपये चाहता है इनके सो उन्हें असूल करने के लिए कुएँ में कूदने को उतावली हो रही हैं, भला यह भी कोई बात है? मैंने कहा कुछ दिन और सबर करो तो बस, चिल्लाने लगीं।"

सीतल ने दिदिया का पक्ष लिया—"तो नाना दिला ही क्यों नहीं देते उनका रुपया?"

अब तक दिदिया फिर लौट आई थीं, कुछ बोलने के लिए भरी हुई खड़ी थीं।

रानी महराजिन ने कहा—"हां हां उनकी जमा है, वे फेर लेना चाहती हैं। ऐसा ही है तो गनेस किसी दूसरे से रुपया काढ़ ले और इनका अदा कर दे।"

सीतल की अम्मा भी बोलीं—"हां नियाव की बात तो यही है।"

बांके महराज उकता गए, बोले—"तुम सब बेवकूफ हो, निरे बेव-कूफ। न समझते हो न बूझते हो।" यह कहकर अपनी खड़ाऊँ पहन कर खटर-पटर करते हुए चल दिए।

दिदिया ने निकट आकर कहा—"देखो मैं गलत कहूँ तो मेरा मूँड़ काट

लो। मेरी जमा है मैं माँगती हूँ। आखिर आदमी के रुपया पैसा होता है तो इसीलिए कि उसके गाढ़े पर काम आए। सोचा न जाने कब मर जाऊँ इसीलिए रुपया उगाह कर कुछ तीरथ बर्त कर आऊँ। आज अष्टमी है, सात दिन अँधेरे पाख के फिर पन्द्रह दिन उधर, कोई बीस दिन बाद माघी पड़ती है, परागराज हो आऊँ, उधर ही से चितरकोट हो आऊँगी, अनसुइया महरानी के दरसन हो जाएँगे। मगर ये बांके तो यही चाहते हैं कि कब बुढ़िया की आँखें मुँदें और कब सारी रकम हथिया लें।"

बांके ने बाहर आकर फिर दिदिया को घुड़का—"मैं कहता हूँ बन्द करो यह बकवास।"

दिदिया चुप हो गईं।

सब लोग जाने की तैयारी करने लगे। तपता क़रीब क़रीब ठंडा हो चुका था।

शाम का वक़्त था। बांके महराज के दरवाज़े पर भीड़ जमा थी। सब लोग तरह तरह के मुँह बनाकर बातें कर रहे थे। कोई ऊपर हाथ उठा उठाकर जैसे भगवान को धन्यवाद देता था तो कोई पैर के अँगूठे से ज़मीन खोदता था। जहाँ भी बांके महराज खड़े होकर बातचीत करने लगते वहीं लोग उन्हें घेर कर खड़े हो जाते। किशोरी की गोद में सिर रखे छोटे रो रहा था। लल्लू थोड़ी देर छोटे के पास खड़े रहकर रोने की कोशिश करता, जब रुलाई न आती तो भीड़ का एक चक्कर काट आता।

बांके महराज कह रहे थे—"मैंने कल ही मना किया था लेकिन बूढ़े आदमी की जिद्द! आखिर बच्चा तो हैं नहीं कि कोई रोकथाम की जा सके।"

एक ने पूछा—"चोट ज़्यादा लगी है?"

बांके महराज—"हां कहीं कहीं फूट गया है, वह तो कहो जियावन अहिर फौरन ही पैठ गया और निकाल लाया।"

"होश में तो हैं?"

"हां होश आ गया है।"

दिदिया सचमुच ही कुएँ में पाँव डालकर बैठी थीं। कच्चा कुआँ था। पैर फिसल गया तो कुएँ के अन्दर चली गईं। जियावन अहीर ने फ़ौरन ही कुएँ में पैठकर उन्हें निकाल लिया था लेकिन चोट काफ़ी आ गई थी। माथा और कुहनी फूट गए थे। शायद अन्दर भी कुछ धमक आ गई थी।

पड़ोस के वकील साहब भी शोर-गुल सुनकर आ गए थे। बांके महराज को अपनी ओर बुलाते हुए बोले—"ज़रा इधर सुनिए पंडित जी !" और अकेले में ले जाकर उनसे कहा—"देखिए ज़्यादा बातें न कीजिए, कहीं क़ानून की गिरफ़्त में आ जाइएगा। साफ़ साफ़ ख़ुदकुशी का केस है।"

बांके महराज सन्नाटे में आ गए।

वकील साहब ने कहा—"छोटे को मेरे घर भेज दीजिए, टिंचर ले आए। ज़ख्मों पर लगा दिया जाय।"

सीतल ने बाज़ार में ख़बर सुनी थी। चिट्ठी बांटकर लौट रहा था। दौड़ता हुआ आया। बांके महराज ने आगे बढ़कर उसे सब बातें समझा दीं। चुप रहने को कहा और झींखने लगे—"इस बुढ़िया ने जिन्दगी भर परेशान किया, मर भी नहीं जाती। मरते वक्त यह और ज़हमत मोल ले आई।"

सीतल सान्त्वना देने लगा।

इतने में छोटे टिंचर की शीशी, कुछ पुरानी रूई और झाड़ू की कई सींकें लेकर आ पहुँचा। कुछ ख़ास-ख़ास आदमी बरोठे की ओर, जहां दिदिया लेटी हुई थीं, चले।

होश तो दिदिया को नाममात्र को था। रह रहकर चीख़ उठती थीं, न जाने क्या-क्या बक रही थीं। बुख़ार आ गया था।

गनेस मुराई दौड़ता हुआ बरोठे के अन्दर घुस आया और बांके महराज के पैरों पर गिर कर बोला—"मुझको उद्धार करो महराज। साम का बखत है। गंगा मैया की कसम खाता हूँ जो मेरे पास रुपया रहा हो। जैसे ही दिदिया की बात सुनी मेहरिया की सारी चीज बस्त गहने रख के ये एक

सौ दस रुपये लाया हूँ। इन्हें ले लो—हाय राम यह बरमदोख मुझी को लगना था।"

अब तक सीतल टिंक्चर लगाने लगा था। टिंक्चर लगाने से पीड़ा हुई तो कराह कर दिदिया ने आँखें खोल दीं। लोगों की जान में जान आई। गनेस को देखकर टूटे फूटे स्वर में बोलीं—"गनेस।"

गनेस आर्त स्वर में बोला—"दिदिया मुझ पर दया करो, यह रुपया है तुम्हारा, इसे ले लो और जौन कसूर हुआ हो माफ करो।"

दिदिया ने सीतल को इशारा किया। सीतल ने आगे बढ़कर रुपये ले लिए और गिनकर बताए—एक सौ दस हैं—पाँच बीसी और दस। दिदिया ने फिर इशारा किया कि सिरहाने रख दो।

कल रात भर दिदिया बकती रहीं। बुखार तेज रहा। बांके महराज मुँह फुलाए ही रहे क्योंकि शाम को पुलिस आ गई थी और रुपया तो दे नहीं सकते थे इसीलिए दरोगा साहब से काफ़ी हाथ-पैर जोड़ना पड़ा। एक कांग्रेसी नेता से सिफ़ारिश भी करवानी पड़ी थी। दिन भर दिदिया की बुराई करते रहे।

शाम को सीतल जब लौटा तो हाथ-मुँह धोकर दिदिया के सिरहाने बैठ गया। किशोरी से पूछा—"कुछ दूध पिलाया था?"

"नहीं, कुछ पीती ही नहीं।"

"अच्छा जाओ एक कटोरी में गरम कर लाओ, मैं पिलाता हूँ।" किशोरी चली गई। आवाज़ सुनकर दिदिया ने आँखें खोलीं। बांके महराज पीछे आकर खड़े हो गए। दिदिया बोलीं—"कौन सीतल?"

"हां दिदिया।"

"देखो धोती के खूँट से कुंजी खोल लो। घर के अन्दर की खिरकी खोल कर, उसमें कुछ चीज बस्त रखी है, ले आओ।"

सीतल चला गया।

किशोरी दूध लेकर आई। दिदिया ने कहा—"किशोरी!" किशोरी का चेहरा खिल उठा; बोली—"हाँ दिदिया।"

"आ बेटा मेरे पास आ, तुझे छू लूँ।"

दूध स्टूल पर रखकर किशोरी पास आ गई।

दिदिया ने उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए कहा—"जरा छोटे को भी बुला ले।"

किशोरी छोटे को बुलाने चली गई।

सीतल एक छोटी सी गगरी में कुछ गहने लेकर आ गया। दिदिया के सिर और कुहनी में चोट थी, उठ-बैठ सकती ही नहीं थीं। सीतल से बोलीं—"सोने और चांदी के अलग-अलग कर लो।" सीतल ने किया। दिदिया ने कहा—"चांदी के गहने किसोरी के हैं और सोने के छोटे की दुलहिन के। दोनों के बियाह पर दोनों को दे देना।"

इतना कहकर दिदिया हांफने लगीं। कुछ देर रुककर उन्होंने सिर-हाने इशारा किया। सीतल ने नोटों की गड्डी निकाली। दिदिया ने कहा—"कितने हैं?" सीतल ने गिनकर कहा—"दस ऊपर सौ।"

दिदिया ने अपने को सँभाल कर कहा—"इनसे मेरा किरिया-करम करा देना, कम पड़े तो चाहे तुम लगा देना लेकिन बांके से एक पाई न लेना।"—और अवसन्न होकर शिथिल हो गईं।

सीतल ने कांपते हुए हाथों से रुपए थाम लिए।

सबेरे के वक़्त बांके महराज के दरवाजे फिर भीड़-भाड़ जमा हो गई थी। दिदिया चली गई थीं। किशोरी, छोटे और पड़ोस की कुछ बुढ़ियों ने रो भी डाला था। अब तो उनको ले जाने की तैयारी हो रही थी। सब लोग स्वर्गीया दिदिया की तारीफ़ के पुल बाँध रहे थे। सबकी ज़बान पर एक ही बात थी कि दिदिया ज़िन्दगी भर किसी की एहसानमन्द नहीं रहीं, और भागमान तो इतनी थीं कि न पूछो। देव बेला में एकादशी के दिन चोला छूटा, सीधे बैकुण्ठ गई होंगी।

मगर सच तो यह है कि चलते-चलते उनके ऊपर एक बड़ा भारी एह-सान लद गया था। उनका चोला जब छूटा था तब एकादशी नहीं बल्कि दशमी थी; और देव बेला भी नहीं थी, रात के ग्यारह बजे थे। सीतल ने सहूलियत के ख़याल से सबेरे तक यह ख़बर रोक रक्खी थी।

नागपूजा

"कैसे चलीं मिसराइन?"—कहकर जमींदारिन ने मचिया आगे बढ़ाई।

"अरे सुना अरुन्धती आई है, सोचा देख आऊँ बहुत दिन हुए"—मिसराइन ने मचिया पर बैठते हुए कहा।

"अरे ओ अरुन्धती, मिसराइन बुआ मिलने आई हैं, हां चार साल बाद आई है, मैं क्या करूँ मैं तो चाहती थी कि यहीं रहे लेकिन नन्दोई माने ही नहीं।"

तब तक अरुन्धती आकर खड़ी हो गई। छरहरे बदन की लड़की, हलके फ़ीरोजी रंग की धोती, गुलाबी जम्पर, सुन्दर चेहरे पर कुछ-कुछ कमज़ोरी के निशान।

"इतनी बड़ी हो गई बिटिया! आ इधर निकल आ जरा दुलार कर लूँ अपनी अरुनी को"—मिसराइन ने ललक कर कहा।

अरुन्धती मचिया के पास झुक आई, मिसराइन पीठ पर हाथ फेर-फेरकर कहने लगीं—"अपनी मिसराइन बुआ को भूल गईं, मेरी ही सेई हुई हो। पिछली सस्ती के वाद जब बहिया आई थी तब उसके बाद बीमारी फैली थी। तभी तो तुम्हारी अम्मा मरी थीं। हाय कितनी अच्छी थीं बिचारी कम्मो! क्यों भौजी, कितने दिन हुए कम्मो को मरे?" मगर तब तक जमींदारिन दूसरी तरफ देखने लगी थीं।

अरुन्धती ने कहा—"मामी ! मिसराइन बुआ पूछती हैं।"

"क्या कहा मिसराइन?"—ज़मींदारिन ने उधर ध्यान देते हुए कहा।

"पूछा कि कम्मो बिटिया को मरे कितने दिन हुए ?"

"कम्मो बीबी को मरे ! चार साल की थी अरुन्धती तब, कितने की हो अब बिटिया ?"

अरुन्धती ने कहा—"अठारह की।"

ज़मींदारिन को बहुत ताज्जुब हुआ—"आँय . . . नाहिं . . . अठारह की! तुम !"

मिसराइन ने समझाया—"कम्मो बिटिया के मरने के बाद जब तुम इन्हें ले आई थीं तब पिरथी आठ साल का था, इन्हें गोद में लेकर घुमाया करता था, सँभाल नहीं पाता था फिर भी टाँगे ही रहता था।"

"तो क्या पिरथी बाइस का हो गया ?"

"नहीं तो क्या ?"

अरुन्धती बोल पड़ी—"तो अब तो बहुत बड़े हो गए होंगे पिरथी भइया। मुझे तो बस याद भर है, इधर बीच में जब आई थी तब कहाँ देखा था।"

मिसराइन ने भरेपुरे दिल से कहा—"अबकी देख लेना, घूमा ही करता है।"

"तो अब तो कहीं बातचीत पक्की करो। तुम लोगों के यहाँ तो इतनी देर में नहीं होता।"—ज़मींदारिन ने अब दिलचस्पी लेना शुरू किया।

"पक्की तो सब कुछ करूँ मगर वह तैयार हो तब तो, कहता है पच्चीस के पहले बियाह का नाम न लो—पोथी पढ़ता है न ? पूरा पंडित हो गया है। बहुत सोचती हूँ बहिन की निसानी है, बिचारी दो बरस का छोड़ के मरी थी। पाल-पोस के इतना बड़ा किया। बहू का मुँह भी देख लूँ। अपना ही खून-मांस तो है। मगर सब उसके हाथ है"—कहकर हाथ ऊपर उठाया और कहती गई—"अब तो बूढ़ी हो गई हूँ, जहाँ इतनी कटी, रही-सही भी काट डालूँगी। जिसे सुख बदा होगा, राज करेगा।" मिसराइन ने पूरी दास्तान छेड़ दी। ज़मींदारिन ने सारांश समझ कर जवाब दिया—

"अरे ऐसा कहीं तुम्हें सोचना चाहिए? अब तो तुम्हारी तपस्या पूरी हुई है। बुढ़ापा चैन से कटे इसीलिए तो पाल-पोसकर इतना बड़ा किया है। तुम उससे हठ क्यों नहीं करतीं। हम कायस्थों के यहाँ तो देर में शादी होने का रिवाज ही है। फिर भी नन्दोई हठ पकड़े हैं, अगले साल ही अरुन्धती की बिदाई समझो।"

अरुन्धती का चेहरा कुछ लाल हो गया। अब तक वह मिसराइन से अलग हट कर पास पड़ी चारपाई पर बैठ गई थी।

मिसराइन बोलीं—"आने को बात तो कई जगहों से आई है। कुछ लोग तो दहेज भी देने को तैयार हैं। जानती ही हो पिरथी के बाप तो दुबे थे, ऊँचों में कोई आया नहीं। मगर मैंने तो सोच लिया है कि चाहे कुछ देना ही पड़े कुछ बढ़ कर ही पिरथी का बियाह करूँगी। एक डौंड़िया-खेर के सुकुल हैं, पचास ऊपर सौ माँगते हैं। तुम लोगों के यहाँ अच्छा है इतना ऊँच-नीच का झगड़ा नहीं है।"

अरुन्धती उठकर चली गई।

ज़मींदारिन ने कहा—"ऊँच-नीच नहीं है तो क्या हुआ। कहीं गला बचने पाता है? अब अरुन्धती के लिए अभी से फिकिर सुरू कर दी है तब तो जाकर कहीं लेने-देने लायक कुछ जमा हो सकेगा।" फिर आँखें तरेर कर कहा "अब नन्दोई चाहते हैं कि हम लोग सँभालें। मैं तो कह दूँगी कि रसम-रिवाज की बात और है बाकी हम लोग कुछ नहीं करेंगे। जब मैंने सोचा था कि मेरे कोई है नहीं इसे ही पाल-पोस लूँ शादी-ब्याह भी सब करूँगी तब तो नन्दोई ने गैर माना, अब मैं ही क्यों जूझूँ?"

"सही बात है।"

"अरे हाँ मिसराइन भली याद आई। तुमने यह तो पूछा ही नहीं कि अरुन्धती आई क्यों है?"

"सोचा देखने-दिखाने चली आई होगी।"

"भली आई, और नन्दोई भेजने भी लगे यूँ ही। यही तो तुमसे कहना था कि महंत जी के यहाँ कोई आने-जाने वाला है क्या?"

"पिरथी ही रोज आता-जाता रहता है। वहीं तो पोथी पढ़ता है। क्यों क्या बात है?"

ज़मींदारिन ने निकट आकर धीरे से कहा—"देखो मिसराइन तुम्हारी बात और है। तुम्हें बताए देती हूँ किसी से कहना नहीं! सयानी बिटिया का मामला है।"

"हाँ-हाँ कहो!"

"बात यह है कि अरुन्धती को दौड़ा की बीमारी हो गई है। कोई दो साल हुए। नन्दोई ने आस-पास के किसी गाँव के बैद को नहीं छोड़ा। सहर से लाकर मीठी गोलियाँ भी खिलाईं। लेकिन कोई असर नहीं। लोगों का कहना है जब तक डाक्टर आला लगाकर नहीं देखेगा तब तक दवा काट नहीं करेगी। मैंने सोचा हो सकता है कुछ फेर-फार हो। महंत जी को दिखा लेने में क्या हरज है?"

"फेर की ही बात है। सितलू सेठ की बिटिया को नहीं देखा था। जब अभुवाने लगती थी तब धरे-थामे नहीं रहती थी। महंत जी ने गंडा बनाया। खुसी-खुसी बियाह हुआ। बस एक दो बार फिर अभुवाई, उसके बाद से जो छूटा तो आज तक चैन से रहती चली आ रही है। अब तो बाल-बच्चे भी हैं।"

"हाँ जिसको दे भगवान्. . . । सब बदे की बात है। मेरे तो चार-चार हुए और इन्हीं पापी हाथों से उठा-उठाकर गंगा माई को सौंप दिया"—ज़मींदारिन का गला भर आया।

मिसराइन ने सांत्वना दी—"उदास न हो भौजी, घर-घर यही रोना है। मुझी को देखो। पिरथी को देख-देखकर जी रही हूँ। चौबीस घंटे खटका बना रहता है। कब हाथ से बेहाथ हो जाय। अपना अपना ही होता है।"

"पिरथी ऐसा नहीं है, वह तुम्हीं को अपनी महतारी समझता है, इतना नेकचलन लड़का गाँव में दूसरा नहीं है। बुरी नजर तो किसी को देखा ही नहीं अभी तक। नहीं तो आजकल के छोकड़े दूध के दाँत नहीं टूटते और डोरे

डालने लगते हैं। भाग सराहो मिसराइन घर में दिया तो जलेगा; तुम न रहोगी तब भी पिरथी रहेगा। डेहरी बहुर आएगी।"

मिसराइन ने साँस लेकर कहा—"राम हैं।"

ज़मींदारिन कहती गईं—"बस अब तुम देर न करो। अबकी लगनें तो गईं मगर अगला बैसाख न जाने पाए। तुम फिर से कहकर तो देखो।"

मिसराइन के चेहरे पर उतावली के चिन्ह साफ़ दिखाई पड़न लगे थे—"अच्छा तो चलूँ अब भौजी, फिर आऊँगी।"

"अरे कुछ तो बैठो।"

"नहीं दुपहरी होने को है। बदली के मारे जान नहीं पड़ता। पिरथी महंत जी के यहाँ से पढ़कर लौटा होगा। आज सबेरे भी कुछ नहीं खाया।"

"अरे तो चली जाना। कौन रोज-रोज आती हो। ओ अरुन्धती! ताखे पर भंडारे की चाभी रखी है, मिसराइन बुआ के लिए एक सीधा निकाल लाओ। आ जाया करो कभी-कभी मिसराइन। दस कदम पर तो रहती हो। अच्छा देखो भूलना नहीं। पिरथी से महंत जी को कहलवा देना। पिरथी से बता देना लेकिन और किसी को न बताना। दौड़ा आने की बात फैल गई तो बियाह को बड़ा गाढ़ा पड़ेगा। बिचारी डरावने-डरावने सपने भी देखती है। कल भी सोते-सोते सपने से डरकर चौंक पड़ी फिर बड़ी देर तक रोती रही। बहुत पूछा मगर उसने सपना नहीं बताया। फिर अपने पास बुलाकर सुलाया तब कहीं नींद पड़ी उसे। बिचारी रात भर मुझसे लिपट कर सोई।"

"देखो अकेले न छोड़ना, कहीं डरा-सका जायगी।"

"छोड़ती थोड़े ही हूँ। भला एक बात कहूँ—कहीं यह कम्मो बीबी का ही फेर तो नहीं है, महामारी में मरी थीं। नन्दोई बताते थे कि एक बार जब वह अभुआ रही थी तब उससे पूछा कि तुम कौन हो तो उसने कहा था कि मैं अरुन्धती की अम्मा हूँ। तब से नन्दोई ने ठान लिया है कि जल्दी-से-जल्दी अरुन्धती को बियाह डालेंगे। तुम्हीं सोचो कितनी वैसी बात है।"

"हरे भगवान् ! कलजुग है।"

अरुन्धती आटा लाकर खड़ी हो गई थी। मिसराइन ने 'बनी रहो बिटिया' कहकर ऊपर से इकन्नी उठाकर खूँट में बाँधी और चादर में आटा बाँधने लगीं।

जमींदारिन ने फिर कहा—"तो फिर भूलना नहीं मिसराइन।"

मिसराइन—'अभी कहे देती हूँ जाकर पिरथी से'—कहती हुई उठ कर खड़ी हो गई।

सनाका खाई हुई-सी मिसराइन घर में घुसीं, छप्पर के नीचे पिरथी को चूल्हा फूँकते देखा तो जान में जान आई। पूछा—"दरवाजा कैसे खुला पिरथी, मैं तो ताला मार के गई थी ?"

चूल्हा फूँकते-फूँकते पिरथी की आँखें लाल हो गई थीं। आँखें मलते हुए बोला—"तुमने कुंजी लगाई होगी मगर ठीक से लगी नहीं। मैंने थोड़ा सा हिलाया-डुलाया तो खुल गया।"

मिसराइन बोलीं—"देखो आज ही गुरबकसगंज की बजार लगेगी। एक नया ताला ले आओ, नहीं तो किसी दिन कोई आकर सब कुछ बीन ले जाएगा।" और एक डलिया उठाकर उसमें सीधा खोलने लगीं।

पिरथी ने बड़बड़ाते हुए कहा—"धरा ही क्या है जो बीन ले जायगा कोई। ये लकड़ियाँ तो एकदम गीली हैं जलाए नहीं जलतीं।"

"अरे तो तुम्हें क्या सूझी चूल्हा फूँकने की। चलो उठो वहाँ से।"

"कोई एक दिन की बात है ? रोज ही तुम तो कभी यहाँ कभी वहाँ चली जाती हो और यहाँ मारे भूख के पेट में चूहे दौड़ने लगते हैं।"

"तो यों ही थोड़े मारी-मारी फिरती हूँ, आज जिमींदार लाला के यहाँ गई थी। बड़ी अच्छी हैं बिचारी जिमींदारिन। आने लगी तो एक सवा सेर का सीधा दिया, चार पैसे भी दिए, कहा कभी कभी आ जाया करो।" तुम्हारी बड़ी बड़ाई कर रही थीं। कहती थीं कि बस पिरथी का बियाह तो कर ही डालो।"

पिरथी चूल्हा छोड़कर उठता हुआ बोला—"धरा है कहीं बियाह जैसे कि गप से कर लें।"

मिसराइन ने चूल्हे की ओर बढ़ते हुए कहा—"अरे तुम मानो तब तो।"

"मानूं क्या, किसी की लड़की भारू थोड़े ही है। आदमी घर देखता है, बर देखता है, दिया का तर देखता है; यहाँ कौन रोकड़ धरी है ?"

मिसराइन ने चूल्हे से उलझते हुए कहा—"होगा क्या रोकड़ का। जो थोड़ा-बहुत लगेगा मैं कहीं से सारा इंतजाम कर लूँगी। तुम हामी तो भरो।"

पिरथी ने ठंडी सांस ली—"मेरे हामी भरने से क्या होता है! तुम लाओगी भी कहाँ से ? उँह जाने भी दो। महंत जी कहते भी हैं कि बिना पच्चीस के हुए गिरिस्त आसरम न लेना चाहिए।"

मिसराइन ने एक लकड़ी को पैर से अड़ाकर तोड़ते हुए कहा—"सो तुम फिकिर न करो। मेरे पास अभी तक अपने सुहाग के छन्नी-पछेला और झाँझें रक्खी हैं। बहुत हलके हैं तब भी क्या सौ के भी न होंगे ? अभी तो लगनों के साल भर हैं। कूट-पीसकर पचास-साठ जमा कर लूँगी। ज्यादा का दिवैया तो गाँव में कोई है नहीं लेकिन दस पाँच की कमी पड़ी तो जिमींदार लाला ही दे देंगे। डौंड़ियाखेर वाले डेढ़ सौ माँगते हैं, कुछ तो कम करेंगे ही। तुम हामी भर करो, देखो मैं सब कर लेती हूँ कि नहीं। गिरिस्त-विरिस्त आसरम की बातें छोड़ो। देखो भला आजकल कोई पचीस बरस तक बैठा रहता है कि तुम्हीं।" पिरथी का मुँह अपनेआप खुलता जा रहा था, जैसे दिल कुलाचें भरने लगा हो। उसने यों ही बात बढ़ाई—"अरे जमींदार धेला न देंगे।"

मिसराइन ने आशा बाँधी—"अरे जिमींदार न देंगे तो जिमींदारिन तो देंगी। आज तो इतनी बड़ाई कर रही थीं तुम्हारी कि बस। कह रही थीं सच पिरथी तो बस सौ में एक है, हमेशा अपनी राह चलता है। किसी की बहिन बिटिया नहीं ताकता।"

पिरथी ने इधर-उधर देखा जैसे किसी की नज़र बचा रहा हो और बच ही न पा रही हो। हार कर मिसराइन की ओर फिर से देखा तो बोला—"मौसी गुड़िया कब हैं?" मौसी कहती गईं—"कह रही थीं कि उसका बियाह तो बस कर ही डालो।"

पिरथी ने फिर कहा—"कै मौसी?"

मौसी जैसे सोते से जागीं—"क्या?"

"गुड़िया कब हैं?"

"सोमबार को परीवा थी—आज है बुद्ध, पंचमी को पड़ेगी गुड़िया।"

"यानी परसों?"

"हाँ परसों। मगर हमारी कैसी गुड़िया, कैसी राखी, भगवान् ने एक बहिन दी होती तुम्हें तो. . . ."

पिरथी ने बात काटकर कहा—"देखो, गुड़ियों के दिन रात में नाग-देउता के नाम कुछ दूध-चंदन-अच्छत् चढ़ाना होगा।"

"क्यों क्या बात है?"

"क्या बताऊँ इधर तीन-चार दिन से नाग-देउता मुझे रात में सपना देते हैं। आज मैंने महंत जी से बताया था तो उन्होंने कहा कि बड़ा सुभ है। गुड़िया को नाग-पंचमी भी कहते हैं उस दिन नागों की पूजा होनी चाहिए। नाग-देउता तुम्हें अपनी पूजा के लिए ही सपनियाते हैं।"

"अच्छा! तब तो जरूर सुधि रखना, मैं तो बिसर जाती हूँ।"

पिरथी कहता गया—"बिहारी तो कहता था कि नागों की पूजा करना पोंगापन है, भला कोई मौत को भी पूजता है, लेकिन मैं तो जब से सपने देखने लगा हूँ तब से कुछ ऐसा जी रहने लगा है कि क्या बताऊँ।"

"नहीं, नहीं, पूजा जरूर होगी। बकने दो बिहारी को। भला उनसे कोई बाहर है? वे तो सब जगह समाए हुए हैं। अभी किसी ताख से, मोहरी से, कहीं से निकल आएँ, उनका कौन ठीक है। अरे हां, सपनों की बात चली तो अच्छी याद हो आई। कल महंत जी से कहना कि जिमींदारिन ने बुलाया है।"

"अच्छा कह दूँगा। मगर काहे ?"

"अरुन्धती आई है, खराब-खराब सपने देखती है तो मैंने कहा न हो महंत जी को दिखा लो।"

"कौन अरुन्धती ?"

"अरे अरुन्धती, और कौन अरुन्धती, तुम अरुन्धती को भूल गए ? वही जिमींदारिन की भांजी जिसे तुम कनियां लिए गांव भर में घूमा करते थे। अभी तो चार साल हुए आई थी।"

"हाँ-हाँ अब याद आई। चार साल पहले जब आई थी तब मैंने कहाँ देखा था ?"

"अब देखो तो कह थोड़े ही सकते हो कि यह वही अरुन्धती है। अब सयानी हुई है।"

"कितनी बड़ी होगी ?"

"न होगी तो तुम्हारे कांधे भर तो जरूर होगी।"

पिरथी अपने कांधे की ओर देखने लगा—अचानक उसके मुँह से निकल गया—"कैसी है ?"

और अचानक वह रुक गया, उसके मुँह पर फिर से लाली दौड़ने लगी थी, सिर अपराधियों की तरह झुक गया—मौसी ने जो कुछ 'सुन्दर', 'सुसील' कहा वह सब उसके कानों के ऊपर से निकल गया।

अरुन्धती कह रही थी—"मामी गुड़िया पीटने की छड़ी क्यों मँगवाई है ? कौन पीटेगा ?"

जमींदारिन ने उदास होकर कहा—"जब तुम्हारा भाई था तब उसके लिए ली जाती थी, अब मँगवा लेती हूँ किसी ब्राह्मण के लड़के को दे देती हूँ, संजोग देखो शाम होने को आई अभी तक कोई आया ही नहीं। पिरथी को मिठाई ले जाने के लिये बुलवाया था, वह भी नहीं आया। अभी तो तुम गुड़िया छोड़ने भी नहीं गईं।"

अरुन्धती ने संतोषपूर्वक कहा—"अब तो पीटी भी जा चुकी होंगी।"

ज़मींदारिन ने कहा—"तो क्या हुआ? घर से गुड़िया तो भेजी ही जायँगी तुम न आई होतीं तो और किसी के हाथ ही भिजवा देती।"

तब तक किसी ने बाहर से आवाज दी—"माईं......"

ज़मींदारिन ज़ोर से बोलीं—"आओ-आओ पिरथी अन्दर चले आओ। बड़ी देर कर दी।"

पिरथी आकर आंगन में खड़ा हो गया।

ज़मींदारिन ने कहा—"इनको चीन्हा? अरुन्धती हैं। तुम इन्हें गोदी में लिए गांव भर में घूमा करते थे।"

पिरथी हँस दिया।

ज़मींदारिन कहती जा रही थीं—"तुम कोई अँगौछा-वँगौछा लाए हो, मिठाई..." फिर कन्धे पर पड़ा अँगौछा देखकर चुप हो गईं और थोड़ा रुककर बोलीं—"अरुन्धती, न हो पिरथी के साथ जाकर गुड़िया डाल आओ नहीं तो और भी अँधेरा हो जाएगा।"

अरुन्धती को जैसे एक झटका लगा, अचकचा कर पूछा—"क्या कहा माईं?"

"कहा कि पिरथी के साथ जाकर गुड़िया डाल आओ नहीं तो और भी अँधेरा हो जाएगा। पिरथी तुम इन्हें पहुँचा जाना, अँगौछा छोड़े जाओ, मैं मिठाई बाँध रखूँगी। अरुन्धती जाओ, पूजा का सामान उठा लाओ।"

अरुन्धती अन्दर गई।

ज़मींदारिन ने आगे बढ़कर पिरथी के सामने हाथ फैला दिया, पिरथी ने कंधे से उतार कर अँगौछा उनके हाथ पर रख दिया। ज़मींदारिन को जैसे कुछ अचानक याद आया, बोलीं—"अरुन्धती देखो गुड़िया पीटने वाली छड़ी भी लेती आना। पिरथी इस बार तुम्हीं ले लो बेटा। कोई छोटा लड़का आया ही नहीं। देर भी हो गई है। कोई पीटने वाला नहीं होगा, तुम्हीं पीट डालना।"

पिरथी ने कहा—"मैं तो लगदा से पीट चुका। लाने दो छड़ी से भी पीट डालूँगा।"

अरुन्धती एक हाथ में पूजा की टोकरी और दूसरी में छड़ी लेकर आ गई। टोकरी चारपाई पर रखकर उसने छड़ी देने के लिए पिरथी की ओर हाथ बढ़ाया। कुछ ऐसा हुआ कि छड़ी लेते वक्त पिरथी का हाथ अरुन्धती के हाथ से छू गया। पिरथी को झटका लगा। वह जैसे पूजा की टोकरी ख़ुद लेने के लिए आगे बढ़ा लेकिन तब तक अरुन्धती ने घूम कर ख़ुद ही उसे उठा लिया। अब वह कैसे लेता, टोकरी तो अरुन्धती के हाथों में पहुँच चुकी थी।

ज़मींदारिन ने कहा—"जल्दी लौट आना।"

दोनों चल दिए। अँधेरा बढ़ता जा रहा था और सन्नाटा भी बढ़ता जा रहा था।

रास्ते भर दोनों एक दूसरे से नहीं बोले। गुड़िया पीटने के मैदान से सब लोग जा चुके थे। पूजा का सामान लेने वाला चमार भी मौजूद न था। अरुन्धती ने टोकरी वहीं उलट दी और पिरथी ने छड़ी तोड़कर फेंक दी।

पिरथी ने कहा—"लाओ टोकरी मैं लेता चलूँ।"

अरुन्धती ने टोकरी आगे बढ़ा दी।

रास्ते भर पिरथी इस तरह चलता रहा कि रास्ता चलने वाले ऐसा समझें कि अरुन्धती उसके साथ नहीं है और अरुन्धती ऐसे चलती रही कि—नहीं वह उसी के साथ है।

ज़मींदारिन दरवाज़े बैठी हुई मिलीं। अरुन्धती दौड़कर घर के अन्दर घुस गई। पिरथी सिर झुकाकर एक किनारे खड़ा हो गया। अँधेरे में मुँह को मुँह नहीं दिखाई पड़ रहा था। ज़मींदारिन ने कहा—"सब चले गए थे क्या?"

"हां वहां कोई नहीं था।"

ज़मींदारिन ने सहज भाव से कहा—"क्या चमार भी नहीं था?"

पिरथी जैसे घबड़ा गया—"हां....नहीं....लेकिन सड़क चलती थी, बहुत लोग आ-जा रहे थे।"

ज़मींदारिन को जैसे उस सफ़ाई से कोई मतलब नहीं था—बोलीं—"अब जाओगे ?"

पिरथी ने कुछ सोचते हुए कहा—"हाँ ।"

ज़मींदारिन ने कह दिया—"अच्छा !"

पिरथी चुप।

ज़मींदारिन को याद आई—"अरे हाँ अपनी मिठाई तो लेते जाओ देखो लाती हूँ।" और 'अरुन्धती'. . . .कहती हुई घर के अन्दर चली गईं।

चारपाई पर तकिया में मुँह छिपाए पिरथी लेटा था। मिसराइन सिरहाने बैठी बालों में तेल मल रही थीं। कह रही थीं—"और भी कहीं दर्द है ?"

"सारी देह टूट रही है।"

"यह आज पहर भर रात रहे तुम्हें नहाने की क्या सूझी ? रात पानी बरसा। काफी ठंढक रही। अभी तक पुरवैया चल रही है। कहीं बुखार न आ जाए। देखूँ तुम्हारा माथा।"

पिरथी चुप रहा।

"सिर उठाओ।"

पिरथी ने अधिक विरोध न किया, सिर उठाया। मगर आँखें बन्द किए रहा। मिसराइन ने माथा देखकर कहा—"बुखार तो नहीं मालूम होता लेकिन चेहरा लाल हो गया है।"

बाहर से आवाज़ आई—"प्रिथी. . .पाल. . ."

मिसराइन ने कहा—"अरे जान पड़ता है महंत जी आए हैं; और दरवाजा खोलने के लिए झपटीं।"

आँगन में पैर रखते हुए अँचला बाँधे महंत जी ने कहा—"जमींदार लाला ने बुलाया था, प्रिथीपाल ने ही तो कहा था। मैंने सोचा लौटते हुए जरा प्रिथीपाल को भी देखता चलूँ। रोज प्रातः पूजन के समय आ जाता था।"

मिसराइन ने कहा—"आज कुछ माँदा है।"

महंत जी ने पूछा—"क्या बात है?"

तब तक पिरथी उठ बैठा था, चारपाई से उतरते हुए बोला—"पाँय लागी महंत जी।"

"आयुष्मान। क्या कष्ट है प्रिथीपाल?"

"कुछ नहीं महंत जी अच्छा तो हूँ। आज सिर में कुछ पीड़ा थी इसीलिए नहीं आया।"

मिसराइन ने कहा—"पूरी बात बताओ न महराज को।" फिर महंत जी की ओर मुखातिब होकर बोलीं—"महाराज आज फिर इसको नाग-देउता ने सपनियाया है। कल तो पूरी पूजा कर दी गई थी, मगर फिर भी दरसन हुए। क्या सपना देखा था पिरथी—पूरी बात बताओ।"

महंत जी ने कहा—"हाँ पूरा सपना बताओ। तुम लोग ध्यान नहीं देते मगर इन सपनों में बड़ा मतलब होता है। अभी जमींदारिन ने बताया कि उनकी भांजी को किसी कराल स्त्री के सपने आते हैं। बस मैं जान गया। काली माई अपना बकरा माँगती हैं। बलि और ब्राह्मण-भोजन करा देने पर सब दोख दूर हो जाएगा।"

मिसराइन उत्सुक होकर बोलीं—"तुम भी बताओ अपना सपना. . ."

पिरथी ने कहा—"मैंने देखा महंत जी कि मैं गुड़िया पीट रहा हूँ तभी किसी ओर से एक चूहा निकल आया है। देखते-देखते उसका रूप नाग-देउता का हो गया। वे मेरी ओर दौड़े, मैंने बहुत उनके हाथ पैर जोड़े मगर वे मेरी ओर फन फैलाए बढ़ते ही चले आए फिर मैं भागा. . ."

महंत जी ने कहा—"रुको, क्या नाग-देउता के फन पर खड़ाऊँ के निशान थे?"

महंत जी ने ऐसे ढंग से पूछा था कि पिरथी को 'हाँ' छोड़ और कुछ कहने का चारा ही न था।

महंत जी ने बहुत निश्चयात्मक ढंग से कहा—"ठीक है, अच्छा तब क्या हुआ. . .?"

पिरथी ने फिर कहना शुरू किया—"भागते-भागते मैं आपकी मंडपिया के पास पहुँचा। फिर मैंने हाथ जोड़कर बिनती की। लेकिन नाग-देउता बढ़ते ही चले आ रहे थे। हारकर मैंने सीढ़ियों पर चढ़ना सुरू किया। महंत जी कितनी छोटी है मंडपिया आपकी लेकिन सपने में मुझको लगा जैसे मैं सैकड़ों सीढ़ियाँ चढ़ता चला गया। जब भी पीछे मुड़ कर देखूँ लगे नाग-देउता दौड़ते चले आ रहे हैं। आखिरकार मैं मंडपिया के ऊपर पहुँच गया।"

महंत जी की उत्सुकता बढ़ती जा रही थी—"अच्छा तब क्या हुआ...?"

पिरथी ने कहा—"तब आप मंडपिया के बाहर निकले और आपने मुझे बड़ी जोर से फटकारा कि तूने मेरी मंडपिया को अशुद्ध कर दिया है। फिर आपने मुझे कोई सराप दिया। सराप मिलते ही मैं एकदम मंडपिया के नीचे गिर गया। जैसे गिरा वैसे ही नींद खुल गई। घिघ्घी बँधी हुई थी मैं बोल नहीं पा रहा था"—इतना कहकर उसने आँखें नीची कर लीं। उसकी गरदन की नसें तन गईं।

महंत जी ने कहा—"यह तो तुम्हें नहीं याद कि मैंने क्या सराप दिया था और मैं क्या पहिने था।"

"हाँ यह तो मैं भूल ही गया था—आप जैसे हम लोगों के कपड़े पहिने हुए थे—हाँ सराप मैं भूल गया—मारे डर के घिघ्घी बँध गई थी।"

आगे मिसराइन ने कहा—"फिर इन्होंने पहर भर रात रहे ही नहाया उसी से सर्दी लग गयी। मूँड़ में तेल ठोंकते ....ठोंकते........"

महंत जी गंभीर विचार कर रहे थे। मिसराइन की बातें उनके कानों तक नहीं पहुँच रही थीं। पिरथी गरदन झुकाये बैठा था। सब कुछ सुन रहा था। मिसराइन ने बात बढ़ाई— 'कै महराज नाग-देउता का सपना तो सुभ होता है।"

महंत जी ने गंभीर होकर कहा—"हाँ मगर इस बार बात बड़ी गंभीर है।"

मिसराइन को जैसे काठ मार गया। महंत जी कहते जा रहे थे—"अनुष्ठान करना होगा। कालिया नाग का सपना है। जान पड़ता है नाग-देउता रुष्ट हैं। मेरे यहाँ आना, मैं सरसों फूँक कर दे दूँगा। पिरथी तुम 'जनमेजय-आस्तीक' वाले मंत्र का जाप करना सुरू कर दो। और देखो मिसराइन, यह जो सराप वाली बात है, इसका उपाय करना होगा—सोने का नाग बनवाकर दान करना होगा और ब्राह्मण भोजन...."

मिसराइन का जी धक से रह गया—"सोने का नाग!"

महंत जी बोले—"और कोई उपाय नहीं है, प्रिथीपाल को लौकी की तरकारी देना तो उसमें जीरा न डालना। शाम को इसे कहीं इधर-उधर न जाने देना। गाँव में किसी के पास जहर-मोहरा है कि नहीं....?"

मिसराइन का मौन महंत जी की बातचीत से ज्यादा मुखर हो रहा था। पिरथी सिर झुकाये हुए चुप था।

महंत जी कहते जा रहे थे—"दान किसी गरीब गिरिस्त ब्राह्मण को देना क्योंकि सराप देनेवाले का चोला गिरिस्त का था। बस यह बन्धेज कर डालो सब शंकर भगवान् की किरपा रहेगी। सरसों मुझसे फुँकवा ले जाना। अच्छा अब चलता हूँ"—कहकर सहज भाव से बाहर चले गये।

मिसराइन ढेर भर सांस छोड़कर धम्म से ज़मीन पर बैठ गईं।

ज़मींदारिन कह रही थीं—"अरुन्धती के मामा तो इन सबके बीस भी न देते। पचास तो मैं तुम्हारी जरूरत सोच के दिए दे रही हूँ। सूद बियाज कुछ न लूँगी। जब चाहो असिल लौटा जाओ और अपनी चीज ले जाओ। तीन जोड़ हैं न—छन्नी, पछेला, झांझें। बड़ी हल्की हैं बिल्कुल पत्तुर।"

मिसराइन ने गहनों की ओर ललचाई नजरों से देखते हुए कहा—"मेरे सोहाग के हैं। सोचा था बेंच-बाँचकर पिरथी का बियाह कर दूँगी। मगर नाग-देउता की यही मंसा है तो यही सही। पिरथी बना रहेगा तो बियाह भी हो जायगा। सुकुल से कहूँगी कि तीन-चार साल गम खाओ। अभी तो उनकी लौंडिया कोई दस ग्यारह की होगी।"

जमींदारिन ने सहानुभूति के स्वर में कहा—"हां जान है तो जहान है।" ये रुपए गिन लो—"दो बीसी और दस हैं।' और गहनों को लेकर अपने आँचल में छिपा लिया।

मिसराइन ने रुपया उठाकर अपने खूँट में बाँधा और असीसें और सांसें छोड़ती हुई दहलीज के बाहर चली गई

भगवान की देन

"किसकी चिट्ठी है ?"—शची ने पूछा ।

जगमोहन सोचते रहे ।

"सुनते हो, मैंने कहा किसकी चिट्ठी है?"—शची ने जोर देकर पूछा ।

"कह तो दिया मुन्नू की है"—जगमोहन ने रूखा-सा जवाब दिया ।

"मुन्नू लाला की है, क्या लिखा है ?"

"वही तो सोचने लगा था । मुन्नू की बहू को फिर लड़का होनेवाला है, अम्मा को बुलाया है । सितम्बर तक होगा । लिखा है कि बरसात के पहले-पहले अम्मा आ जाएँगी तो कम-से-कम बच्चों को सँभालने वाला तो कोई हो जायेगा । पवन तो अब खेलता-कूदता भी है लेकिन गुड़िया तो अभी गोद ही में है । यही सोचने लगा था कि अगले महीने के दूसरे हफ़्ते तक अम्मा को पहुँचाना होगा । मेरी छुट्टी ड्यू नहीं है, मुन्नू की नई-नई तरक्की हुई है, उसका भी आना मुश्किल है"—जगमोहन शची से कहते-कहते अपने से कहने लग गये थे ।

शची सोचने लग गयी थी । थोड़ी देर बाद बोल उठी—"हूँ अभी अप्रैल में ही तो मुन्नू की बहू आयी थी । महीना भर भी नहीं हुआ । तो पेट में था लेकिन मुझे बताया तक नहीं, अभी से गैर समझने लगी ।"

"अरे वह भी कोई बताने की बात थी । ऐसी बातें कहीं मालूम होने को

रह जाती हैं। तुम्हारा लिहाज़ किया होगा।"—जगमोहन ने कुछ-कुछ समझने की कोशिश करते और समझाते हुए कहा।

शची का पारा चढ़ने लगा था। फुफकार कर बोली—"लिहाज़ नहीं तो ख़ाक़ किया होगा। तुम क्या जानो। हम लोग ये बातें आपस में छिपाती नहीं हैं लेकिन मुन्नू की बहू के तो मिजाज बढ़े हैं। जब से आयी हैं एक पेट में तो एक टेंट में, इसी का बड़ा गुमान हो गया है हुँ. . हुँ"—और मुँह बिचका दिया।

"बस यही तो तुम्हारे स्वभाव की ख़राबी है। अरे अपना-अपना भाग्य है"—जगमोहन ने समझाने की कोशिश की।

"हाँ. . . .हाँ भाग्य तो है ही। यही तो कहती हूँ कि मेरे भाग्य फूट गये हैं जो तुम्हारे गले पड़ी नहीं तो वह चुड़ैल मुझसे शान दिखाती और सब कोई मुझे असगुनही और बाँझ कहते। सचमुच भाग्य का ही फेर है"—शची की आँखों में आँसू भर आये।

जगमोहन ने कहा—"मैं कहता हूँ. . . ."

शची ने बात काटी—"कहते क्या हो। जानते नहीं दुनिया का काम किस तरह चलता है, कुछ दवा से होता है कुछ दुआ से। मगर तुम तो कान में तेल डाले बैठे रहते हो। किसी कोशिश या दौड़-धूप से कोई मतलब ही नहीं। चौपटियों के बैद इतने मशहूर हैं, गये कभी उनके यहाँ ? दूर-दूर बरेली-मुरादाबाद से लोग उनके यहाँ आते हैं। और कुछ नहीं तो सौ बार कहा कि मंगल-सनीचर अमीनाबाद के महाबीर जी के ही दरसन कर आया करो। लेकिन तुम तो दफ़्तर से घर और घर से दफ़्तर, इसके अलावा और कोई रास्ता ही नहीं जानते।"

"उफ़ शुरू हो गया तुम्हारा पचड़ा।"

शची कुछ बोली नहीं लेकिन ग़ुस्सा पीते हुए जगमोहन की ओर इतनी तीखी नज़र से देखा कि वह आगे कुछ बोल न सके।

अम्मा नहाकर निकली थीं। आँगन में धोती फैला रही थीं। बातचीत सुनकर कमरे में आयीं—"क्या बात है जग्गू ?"

"मुन्नू की चिट्ठी आयी है लड़का होने वाला है, तुम्हें बुलाया है।"

"हाँ ! अच्छा ! मुन्नू की बहू पिछले महीने आयी थी तभी मैं ताड़ गयी थी। पूछा भी था लेकिन टाल गयी। शरमाती है बिचारी। अभी तो गुड़िया साल भर की भी नहीं हुई"—अम्मा ने उत्साहपूर्वक कहा।

"अगस्त में हो जाएगी। अच्छा गुड़िया बड़ी भाग्यवान निकली। पैदा होने के महीने भर के भीतर ही मुन्नू की तरक्की हुई और साल भीतर ही अपना एक और भाई भी बुलाने की तैयारी कर ली। अच्छा तो तुम कब जाओगी ?"—जगमोहन बोल चले।

अब शची का कंठ फिर से फूटा, बोली—"कोई नहीं जाए-वाएगा। मैं क्या यहाँ भूतों से बातें करूँगी ? इतना बड़ा घर है मुझे अकेले डर लगेगा। बहू का तो रोज ही लगा रहता है। लिख दो कि बड़ी जरूरत है तो चली जायँ मैके।"

अम्मा ने कहा—"हाँ डर तो तुम्हें जरूर लगेगा, तो फिर ऐसा हो सकता है कि तुम्हीं चली जाओ। छोटी बहू के दो बच्चे हो भी चुके हैं कोई पहले-पहल की बात तो है नहीं। मैं यहां सब सँभाल लूंगी, क्यों जग्गू ?"

"मैं नहीं जाती किसी की लौंडी बनने। उन्हें बड़ा गरूर है तो मैं भी किसी का दिया नहीं खाती। जब तक लाला की तरक्की नहीं हुई थी मेरे ही में खाते थे, तब बहू भी भीगी बिल्ली बनी रहती थी। अबकी पिछले महीने आयी तो दिमाग सातवें आसमान पर चढ़ गया था। माथे की टिकुली अब बढ़कर टिकुला हो गयी है। ऐसा झमककर चलती है कि जमीन हिल उठती है।" शची बकती गयी।

अम्मा ने कहा—"अरे दुलहिन ये सुहाग के चीन्ह हैं। राम करे सब कोई इनका गुमान करे। तुम भी गुमान करो तो कौन तुम्हें रोकता है, मेरी ओर देखो।" अम्माँ को अपने बीते सुहाग की याद हो आयी।

"हाँ-हाँ अब तुम भी उन्हीं की तरफ़ से बोलो। माँ-बाप थे उन्होंने न जाने किस जनम की दुश्मनी निकाली कि इस घर में ढकेल दिया। यहाँ भी

अपना कोई नहीं। ऐसी जिन्दगी से तो मौत भली। हे भगवान्....."
शची ने सर पर आसमान उठा लिया।

अम्मा झींखती हुई बोलीं—"बाज आयी मैं तो दुलहिन, भला ऐसी कौन बात मैंने कह दी जो तुम्हें इतनी बुरी लग गयी। मेरे लिए तो जैसे तुम तैसे वह। यह तरफ़दारी वाली बात तुमने सोची कैसे?"

"सब समझती हूँ बच्ची नहीं हूँ, उनके दो-दो हो गये हैं तो अब उन्हीं का चढ़ातम है और मैं तो असगुनही हूँ न....कहो-कहो कहती क्यों नहीं, न जाने पूरब जनम के किन पापों का फल भगवान मुझे दे रहे हैं?"—कहती हुई शची जोर-जोर से रोने लगी।

"अरे दुलहिन! क्या तुम समझती हो मेरे दिल में तुमसे कम कलक है? रातोदिन देवी-देवता मनाते-मनाते अधमरी हुई जा रही हूँ कि हे महादेव बाबा, हे गौरी पारबती एक काना-खोथरा मेरे जग्गू को भी दो। ऐसी कौन अभागिन होगी जो अपने लड़के का बंस न देखना चाहे। मगर आज दस साल होने आये तुम लोगों के बियाह के, अभी तक संकर बाबा ने मेरी अरदास नहीं सुनी। मगर दाता बड़े दयालू हैं, हमारे धीरज की परिच्छा ले रहे हैं, कभी तो सुनेंगे ही इसी आसरे जी रही हूँ नहीं तो जब से जग्गू के बाबू गये तब से मेरे लिए इस दुनिया में रह ही क्या गया है।" कहकर अम्मा ने एक ठंढी साँस छोड़ी।

"मगर बैठे-बैठे लड्डू-लड्डू करने से मुँह में लड्डू तो आ नहीं जाता। भगवान् भी जब तक उनके दरबार में जाकर कोई माथा नहीं टेकता तब तक नहीं सुनते। कुछ दवा-दारू...."

शची कहती जा रही थी कि बात काटकर जगमोहन बोले—"अच्छा भाई होगा। छोड़ो भी इन बातों को। यह बताओ कि खाना भी बनेगा कि यही बखेड़ा चलता रहेगा सबेरे से शाम तक। मुझे दफ़्तर भी तो जाना है।"

शची महत्वपूर्ण बात कह रही थी। जगमोहन ने टोका तो बहुत बुरा लगा, बोली—"चूल्हा जले तब तो खाना बने और चूल्हे में जलाऊँ क्या अपना सिर? कब से लकड़ी-लकड़ी रट रही हूँ लेकिन कंजूस की गाँठ से कौड़ी

तो ब्रह्मा भी नहीं निकाल सकते। अरे बाबा दान-पुन्न नहीं हो सकता, दवा-दारू नहीं कर सकते तो क्या रहने-सहने के लिए भी खर्च नहीं करते बनता।"

"अजीब हालत है, अरे क्या फूँक दूँ घर को तभी तुम्हें मालूम हो कि ख़र्च होता है ? मैं तो कमाते-कमाते मरा जा रहा हूँ तब भी पूरा नहीं पड़ता और तुम्हें इसी की पड़ी है कि ख़र्च नहीं होता।"

"मैं क्या जानूँ कि कमाते हो, कभी कोई ज़रा-सी चीज ला के हाथ में रखी होती तो मैं भी जानती कि खर्च करते हो। मेरे भी कोई है। पेट खाने को और साल में एक जोड़ा धोती तो नौकरानी को भी देना पड़ता। तिस पर यह दिन रात की चूल्हा-चकिया। तुमसे भला तो वह मँगलू कचालू-वाला है कि अपनी घरवाली को तीसरे चौथे अमीनाबाद ही घुमा लाता है। महीने में एक बार सनीमा तो जरूर ही दिखाता है। ऐसी-ऐसी सिल्क की साड़ियाँ लाता है कि किसी शरीफ़ के यहाँ भी न निकलें. . . ."

जगमोहन स्वभाव के चाहे जैसे रहे हों लेकिन स्त्री से दब जाने में ही अपना कल्याण समझते थे। फिर भी आदमी तो आदमी, आख़िर कितना दबेगा ? यह तो नामुमकिन है कि एक हेडक्लर्क जिसके नीचे कितने ही बाबू और चपरासी काम करते हों उसकी तुलना एक कचालूवाले से कर दी जाय और वह अपनी दब्बूपन की पालिसी निभाता चले। जो रोब बाबुओं और चपरासियों पर जमता था उसी ने ज़ोर मारा, बरस ही तो पड़े—" तो चली न जाओ उसी कचालूवाले के यहां। अमीनाबाद घूम लेना, सनीमा देख लेना, जो चाहो सो करना दिल की हविस तो निकल जायगी"—कहते-कहते जगमोहन ग़ुस्से से काँपने लगे।

शची ने दूसरी बु कार छोड़ी—"हाय राम हरजाई बनाते हैं। हे भगवान् मुझको गाज भी नहीं मार जाती। न जाने क्या-क्या सुनना बदा है. . ."

अम्मा ने अब चुप रहना ठीक न समझा, बोलीं—"देखो जग्गू मेहरिया को दाब में रखना चाहिए यह ठीक है लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि

उसे कोई कच्ची बात कहो। सच ही तो कहती है, बिचारी को कौन सुख है, ऊपर से तुम दिल दुखाते हो। छोड़ो दुलहिन तुम भी यह झाँय-झाँय। उठो, खाना बनाने की फिकिर करो। बन्द करो यह रोना-धोना...।"

जगमोहन का गुस्सा अब काबू से बाहर जा चुका था। तड़प कर बोले—"रोना तो जिन्दगी भर है, बन्द करने की क्या जरूरत है, रोने दो"

शची रोते हुए बोली—"हाँ-हाँ मुझे जिन्दगी भर रोना है और तुम्हें रुलाना है, रोऊँगी, जैसा किया है वैसा भोगूँगी..."

अम्मा ने कहा—"नहीं मानोगी दुलहिन, मैं कहती हूँ यह रोना-धोना बन्द करो उठो खाने का इंतजाम करो। कुछ लकड़ियाँ पड़ी होंगी बीन-बान के काम चलाओ।"

शची ने हठपूर्वक कहा—"जब जिन्दगी भर रोना ही है तो नहीं बनाऊँगी खाना जहाँ मन हो खाएँ जाकर।"

जगमोहन ने पूरी बात भी नहीं सुनी—तड़प कर बोले—"खायेगा कौन तुम्हारा बनाया ? रहने दो, आज से घर में खाना बन्द।"

शची ने कहा—"हाँ बन्द, मुझे भी परवाह नहीं है।"

अम्मा लाख कहती रह गई कि मैं ही बना कर खिला दूँ लेकिन उस दिन जगमोहन बिना खाए ही दफ्तर चले गए।

शची और अम्मा ने भी कुछ नहीं खाया। घर में चूल्हा ही नहीं जला। दुपहर भर अम्मा ने शची को पातिव्रत धर्म की सीख दी और अपने जीवन की अनेक घटनाएँ सुनाईं जब उन्होंने दिन रात जागकर जग्गू के बाबू की सेवा की थी। उनकी हर कच्ची-पक्की सही थी। बताया कि आज तक लोग उनकी सराहना करते हैं और वे यादें अब भी मीठी हैं।

शची चिड़चिड़ी थी पर बुरी नहीं। बल्कि यों कहें कि चिड़चिड़ी भी थी नहीं, हो गई थी। गुस्सा उतरा तो मन-ही-मन अपने को धिक्कारने लगी। अम्मा की बातें सुन रही थी तो उसके चेहरे का भाव कुछ ऐसा था कि अम्मा धन्य हैं जो उन्हें पति सेवा करने का इतना अवसर मिला। दिन ढलने लगा तो उठ कर कुछ पराठे बनाए और आलू की तरकारी छौंक दी।

शची ने सोचा था कि पति सेवा करने का अवसर मिला इसलिए अम्मा धन्य हैं लेकिन बिचारी को शायद यह नहीं मालूम था कि धन्य होने के ऐसे अवसर उसकी जैसी सभी नारियों के जीवन में आते हैं। जगमोहन शाम को बुख़ार लेकर लौटे।

वह बुख़ार मामूली बुखार न निकला। छः सात दिन तक तो दफ़्तर के चपरासियों और मुहल्ले के लड़कों की मदद से काम चलता रहा लेकिन तब भी बुख़ार न उतरा तो घबड़ाहट बढ़ी। शची ने मैके वालों को और मुन्नू को तार देकर बुलाया। सब लोगों के आते-आते पन्द्रह दिन हो गये। बुख़ार तब भी नहीं उतरा था। डाक्टरों ने टाइफायड बतलाया था और यह भी बतलाया था कि कम-से-कम बाईस दिन नहीं तो पैंतालिस दिन लग सकते हैं। बहुत सावधानी और देखभाल की ज़रूरत है। सब लोग नौकरीपेशा आदमी थे। शर्माहुज़ूरी में कुछ कह भी नहीं सकते थे लेकिन चाहते हुए भी उनका रुक सकना नामुमकिन था। आख़िर में सबकी राय यही पड़ी कि अस्पताल में भरती करवा दिया जाय। सब सब के मन की बात जानते थे लेकिन 'मई के महीने की शिद्दत की गर्मी में घर से अस्पताल कहीं अच्छा रहेगा' यह सबके लिए बड़ी भारी आड़ थी। मुन्नू भी इसका अपवाद नहीं था। जगमोहन को अस्पताल में दाख़िल कर दिया गया। बाईसवाँ दिन भी टल गया। लेकिन बुख़ार को न उतरना था न उतरा। मैके वाले एक-एक करके खिसकने लगे। यहाँ तक कि मुन्नू के लिए भी कम-से-कम छुट्टी बढ़वाने को एक दिन के लिए चला जाना ज़रूरी हो गया। अब रह गईं बिचारी अम्मा और शची और दफ़्तर के कुछ चपरासी जो कभी-कभी वफ़ादारी निभा जाते थे।

जैसा कि ठीक भी था, शची ने हया-शरम को ताख पर रख कर सारी तीमारदारी का ज़िम्मा अपने ऊपर ले लिया। रोज़ दो-तीन बार जून की कड़ी धूप में अस्पताल जाना और आना। पानी की तरह रुपया ख़र्च हुआ जा रहा था इसलिए बेचारी पैदल ही आती जाती थी।

हालत दिन पर दिन गिरती ही जाती। नर्स डाक्टर सभी बिचारी शची के भाग्य पर तरस खाते। बिचारी बिना बीमारी के ही घुलने लगी। खाने-पीने की उसे सुधि न रहती। कभी नर्स के हाथ जोड़ती, कभी डाक्टर के पाँव पड़ती। चने भिगोकर मुहल्ले वालों को देती कि बन्दरों को चबवा दें। कुत्तों को रोटी खिलाती, हफ़्ते में तीन दिन उपवास करती। खाना खाती तो खाया ही न जाता। बिचारी पेट में पत्थर बाँध कर रोज अस्पताल से घर की दूरी कई बार पैदल नापती। जगमोहन की हालत ज्यों-ज्यों गिरती जाती थी उनका चिड़चिड़ापन बढ़ता जाता था। अस्पताल वालों से तो बस नहीं चलता था, शची ज्यों ही पहुँचती, उसे तरह-तरह की बातें सुनाने लगते कि---'तुम लोग तो चाहते ही हो कि मैं मर जाऊँ नहीं तो यहाँ अस्पताल में मुझे क्यों डाल जाते, अच्छा है मर जाऊँगा तो तुम्हें सुख मिल जायगा, मंशा पूरी हो जायगी' आदि-आदि...। अपशकुन न हो इसलिए शची रो भी नहीं सकती थी, होठ काट कर रह जाती। रोना चाहने पर भी रो न पाने पर जो कष्ट होता है उसका अनुमान केवल वे कर सकते हैं जिन्हें इसका अनुभव हो। सचमुच शची की वेदना असहनीय थी।

दिन बीतते जा रहे थे। मुन्नू को छुट्टी मिलना शायद नामुमकिन हो गया था। मैके वाले बिचारे कब तक क्या-क्या करते। और दफ़्तरवाले जब जान ही गए कि बुख़ार मियादी है और मीयाद के पहले उतरने वाला नहीं है तो रोज-रोज़ क्यों दौड़े आते और फिर ऐसे मरीज़ को रोज़-रोज़ परेशान करना ठीक भी तो नहीं होता। क्या कोई ख़ास इंतज़ाम करना था? क्या शची उसे करने के लिए काफ़ी नहीं थी?

शची को ही सारा इंतज़ाम करना पड़ रहा था। जून की तपती हुई सड़कों पर वह मांग के सिंदूर और आँखों के आँसुओं का बोझ खून और पसीने की ताक़त से ढो रही थी। भीड़ भरी सड़कों पर वह बिलकुल अकेली आती-जाती थी। इस प्रकार गृहवधू की लाज का पर्दा हटता जाता था और जो सूरत उभरती आती थी वह बहुत कमज़ोर थी।

मुन्नू की दुलहिन के लड़का होने वाला था।

जगमोहन लड़खड़ाती जबान से कह रहे थे—"सुनती हो, अब मैं बचूँगा नहीं। आज मैंने सपने में देखा है। मुन्नू का लड़का कह रहा था. . .मुझे आने क्यों नहीं देते. . .आखिर कब तक मेरा रास्ता रोके रहोगे. . . मुन्नू की बहू मेरे काल को जनम दे रही है. . ."

पथराई हुई शची खड़ी रही। उस वक्त गौरैया धूल में लोटी होगी। सड़क पर चलते हुए किसी ने पीछे मुड़कर देखा होगा और मोटर न आ रही होगी तब भी वह बग़ल होकर चलने लगा होगा। अपने दोस्तों में उठते ठहाकों के बीच आप एकदम गंभीर हो गये होंगे। सबने पूछा होगा—"क्यों ?" आपने कहा होगा—"यों ही।" फिर अपने मन-ही-मन पूछा होगा—"क्यों" और उत्तर मिला होगा—"न जाने क्यों।"

पैंतालीसवाँ दिन।

और बुख़ार उतर गया।

जगमोहन पाँच दिन से पथ्य ले रहे थे। कमज़ोर कि हद से ज़्यादा। अब उठ बैठ लेते थे। आज घर जाने की तैयारी थी। शची अकेले ही घर ले जाने के लिए आई थी। नर्स ने कहा—"नम्बर तेरह! तेरी वाइफ़ बड़ी फ़ेथफुल है। यू आर वेरी लकी।" और शची की ओर होकर कहा—"देख बहुत सावधानी से रखना इसे। खाने पीने का इंतज़ाम ठीक रखेगी तो बस समझ ले कि कायाकल्प हो गया है इसका। और तू भी तो बड़ी कमज़ोर हो गई है। कुछ केयर क्यों नहीं करती, ऐं?"

शची ने मुस्कराना चाहा। कड़े होठों में वह नरम मुस्कुराहट सरल न हो सकी तो आँखों से तरल होकर निकली। उसने झुककर नर्स के पैर पकड़ लिए . .

"अरे यह क्या ? नान्सेन्स !"

चेहरे पर दौड़ती हुई सुर्ख़ी को देखते हुए जगमोहन दाढ़ी बना रहे थे। शची ने गिलास में ओवलटीन और नाश्ता लाकर रख दिया—"शीशे में क्या

आँखें फाड़-फाड़कर देख रहे हो? नाश्ता कर लो वक्त हो गया है।"

"अजी गोली मारो वक्त को आज तो पन्द्रह अगस्त है। कोई दफ्तर तो है नहीं। आराम से नहा-वहा कर नाश्ता करेंगे"—जगमोहन ने लापरवाही के साथ कहा।

"देखो इस तरह नहीं चलेगा। पड़ते तुम हो भुगतती मैं हूँ। खाने पीने में वक्त की पाबन्दी तो रखनी ही होगी।"—शची अधिकारपूर्वक बोली।

जगमोहन एक बार फिर शीशे में चेहरा देखकर तौलिया कंधे पर डाल कर बाथरूम की तरफ यह कहते हुए चले कि—"अरे आजादी के दिन तो बख्शो. . .क्यों जी तुम्हारे पास कोई साफ़ धोती नहीं यह चीकट लपेट रखा है?" और बाथरूम को अन्दर से बन्द कर लिया। शची अपनी ओर देखती हुई शेविंग का सामान धोने के लिए बढ़ी।

सामने नाश्ता रख कर शची जाने लगी तो जगमोहन ने हाथ पकड़ कर उसे अपनी ओर खींच लिया—"आज तुम भी कुछ साथ-साथ खाओ न।" जीवन का शायद पहला अनुभव! शची नीचे से ऊपर तक सिहर उठी। हल्के से सिर ऊपर उठाया—आँखों का आग्रह—बग़ल में नाश्ता करने के लिए बैठ गई।

"बहू! कल धोबिन कपड़े लाई थी न। मेरी धोती जरा निकाल देना"—कहती हुई अम्मा चली आ रही थीं। शची झट से उठ खड़ी हुई। जगमोहन गटागट ओवलटीन पीने लगे। उधर शची कमरे की ओर चली, इधर अम्मा कहने लगीं—"जग्गू कल तुमने अपने चपरासी से कहा था कि नहीं? लकड़ियाँ आज बिलकुल खतम हो गई हैं, बीने-बाने काम चले तो चले।"

शची कमरे के अन्दर से बोली—"अम्मा फूलदार अच्छी वाली धोती निकालूँ कि लाल किनारा वाली मोटी?"

"अरे मोटिया वाली निकाल लो। फूलदार वाली वही तो एक अच्छी धोती है मेरे पास कहीं कोई काम-वाम पड़े तो. . . ."

जगमोहन ने कहा—"अरे हाँ अम्माँ मैं तो तुमसे कहना ही भूल गया, अभी परसों भी मुन्नू की चिट्ठी आई थी। मेरे आफिस का नन्दकिशोर आज शाम को बरेली जा रहा है। न हो तुम उसी के साथ चली जाओ। अब तो वक़्त नज़दीक आ रहा है।"

"क्या आज ही ?"

"और नहीं तो क्या ? फिर ले जाने वाला कौन मिलेगा ? इसी से सोचता हूँ। तुम्हें कुछ सामान-वामान बाँधना होगा ?"

"नहीं, सामान कोई ख़ास तो लेना नहीं, हाँ अमीनाबाद से थोड़ी रेवड़ी ला देना, कै बजे गाड़ी जाती है ?"

"यही कोई साढ़े पाँच बजे शाम।"

कपड़े पहनकर जगमोहन अमीनाबाद गए। अम्मा सामान बताती गईं, शची जुटाती गई।

दूसरे दिन दोनों देर तक सोते रहे। सूरज आसमान पर चढ़ आया धूप मुँडेर के नीचे उतरने लगी तो जगमोहन ने शची को हिलाया—"कब तक सोती रहोगी जी !"

शची ने अंगड़ाई लेकर करवट बदल ली।

जगमोहन ठिठक कर देखने लगे। शची के कृश चेहरे पर कुछ ऐसे रंग उभर आए थे और ख़ुमार ने उसमें वह मस्ती घोल दी थी कि वे बरबस उसके ऊपर झुक गए।

शची की लज्जा ने आँखें खोल दीं। प्यार से धक्का देकर बोली—"जाओ, हाँ नहीं तो।"

नहा धोकर नाश्ता करने के लिए जगमोहन तैयार होकर बैठे। शची स्टोव से दूध उतारने लगी तो बरतन हाथ से छिटक कर गिर गया—दूध बह चला। जगमोहन ने कहा—"होगा भी, जाने दो। आज तुम्हें स्टोव की कैसी सूझी ?" शची चुप।

"अरे हाँ, लकड़ी के लिए तो अम्मा कल ही कह रही थीं। क्या बताऊँ

कल छुट्टी रही इसीलिए चपरासी आ नहीं सका। तो बिलकुल नहीं है लकड़ी ?"

"ऊँह तुम फ़िक्र मत करो काम चल जायगा। मगर आज चपरासी से कहना न भूलना।"

उस दिन शची ने पड़ोस से लकड़ियाँ मँगवा लीं।

जगमोहन जब आफिस से लौटे तो एक बंडल अपने साथ लेते आए। शची ने कहा—"क्या है ?"

"देखो कैसी है ?"

"धोती है ? कितने की मिली ? इतनी अच्छी लाने की क्या जरूरत थी। आखिर फिजूलखर्ची से फायदा ?"

जगमोहन देखते रहे, मुस्कुराते रहे।

जनवरी की एक सुबह।

खत पाते ही अम्मा लौट आई थीं। बहू आज आने वाली थी। मैके से 'पेरी' लेकर भाई आया था। दरवाजे 'कुड़म-कुड़म कुम झम-झम' हो रहा था। आँगन में पीले रंग में रँगी हुई धोतियाँ सूख रही थीं। उन पर हल्की पीली धूप पड़ रही थी। आँगन में बैठी हुई शची पर पड़ती उसकी छाया सोना घोले दे रही थी। शची अम्मा से कह रही थी—"मुन्नू लाला आयेंगे कि नहीं ? क्या कह रहे थे तुमसे ?"

"अरे आएगा नहीं तो बहू किसके साथ आएगी ? फिर उसका नेग भी तो है।" अम्माँ ने बड़े उत्साह से कहा।

तब तक पवन कूदता हुआ अन्दर घुसा। शची ने दौड़ कर उसे गोद में उठा लिया और सेंदुर की डिबिया लेकर देवरानी की अगवानी करने के लिए दरवाज़े की ओर बढ़ी।

मुन्नू गुड़िया को और मुन्नू की बहू छोटी मुनियाँ को गोद में लिए हुए घर के अन्दर आए। शची ने बहू के गाल पर प्यार से एक हल्की-सी चपत

लगा कर कहा—"अब चली हैं रानी, खैर यह लो चाभियों का गुच्छा और सँभालो सारा काम-धाम अब तो मुझे कुछ चैन लेने दो।"

मुन्नू की बहू ने शची के पैर छुए। मुन्नू ने रिमार्क कसा—"कहिए भाभी जी, क्या नक्शे हैं?"

शची मुस्कुराई।

अम्मा ने कहा—"बहू देखो पेशकारिन आई हैं जरा उनकी चादर तो छू लो।"

"आओ पेशकारिन इधर निकल आओ। यहाँ बैठो।"

"मुबारक हो जगमोहन की अम्माँ, हो तुम भागवान।"—पेशकारिन ने चादर हाथ में लेकर बैठते हुए कहा।

"सब आप लोगों की किरपा और भगवान की देन है, उन्हीं महादेव बाबा और गौरी-पारबती ने मेरी अरज सुनी नहीं मैं तो नाउम्मीद हो गई थी। भला देखो न दस साल में अब जाकर कहीं ऐसा मौका आया है, सब परमेसुर की लीला है"—अम्माँ ने दार्शनिकों की तरह कहा।

पेशकारिन ने जोरदार समर्थन किया—"बस जगमोहन की अम्मा, लाख रुपए की बात कही तुमने। सब उसी के अधीन तो है। मैं भी उसी परमेसुर का आसरा लगाए बैठी हूँ। देखो कब उसके दरबार में सुनवाई होती है। मेरे रमेसर के बियाह के भी तो कोई आठ-नौ साल होने आए।"

अन्न

काफ़ी रात गए जब वह लौटा तब उसका सारा बदन चूर-चूर हो रहा था। रास्ते में आँखों के सामने कई बार अँधेरा छा जाने की वजह से साइकिल लचक गई थी। इक्केवाला अपनी सवारी को इस तरह समझाता हुआ आगे बढ़ गया था कि 'कोई छैला है बाबू जी, लहराता हुआ चल रहा है।' पैर, मत्थे और कपड़ों की शिकनों पर इक्केवाले की निगाह जाती भी कैसे, सड़क अँधेरी थी। शिकनों वाला रास्ते को भी शिकनदार बनाता हुआ चलता है, इसमें अजब क्या है। अगर कोई देखे बिना, समझे बिना और का और कह बैठे तो भी अजब नहीं। ऐसा तो होता ही है। ऐसा ही तो होता है।

ख़यालों में डूबे-डूबे उसने कमरे के ताले को खोल डाला—अँधेरा जो न जाने कब से उसके इंतज़ार में सारे कमरे में बैठा हुआ था, कमरा खुलते ही भाग गया। स्विच जैसे अपने आप दब गई थी, उजाला फैल गया था। सब कुछ जो उस उजाले में चमक उठा था उसे जैसे उसकी कोई दरकार नहीं थी। उसने सारे कमरे को एक बार छेड़ देना चाहा—शायद कहीं कुछ लिखा हुआ, कहा हुआ, बढ़ा हुआ मिल जाय। उस सारे 'ज्यों के त्यों' को उसने एक बार झकझोर डालना चाहा। खिड़की के पल्लों को भड़भड़ा कर खोल दिया हालाँकि बाहर भी ठंडी हवा नहीं चल रही थी और उस खुलने से कोई परिवर्तन नहीं होना था। मेज़ पर पड़ी हुई अधूरी रचनाओं

को वह एक बार सरसरी निगाह से देख गया हालाँकि वह जानता था कि वे अपने आप पूरी न हो गई होंगी। कैलेंडर पर उसकी निगाह फिर से गई यह देखने के लिए कि जो तारीख़ थी, वही थी। जाने हुए को उसने फिर से जानने का एक व्यर्थ प्रयत्न कर के देखा—फिर ऊँची चारों दीवारों को एक बार, दो बार, कई बार देख कर बाहर से साइकिल अन्दर ले आया। डोलची से किताबों को निकाल कर मेज पर पटक दिया और चारपाई पर बैठ कर जूते के फ़ीते खोलने लगा।

कोने में रखे हुए जूठे बर्तनों पर निगाह पड़ी तो जैसे वह डर-सा गया। सबेरे शाम जिनमें खाना खाता था वे ही बर्तन उसे डरावने लगे। थाली पर पंजों के निशान थे—भूखे पंजे, जिन्होंने सब कुछ खा डाला था कुछ भी नहीं छोड़ा था। उल्टी हुई बटलोई कटे हुए सिर की तरह रखी हुई थी। उन बर्तनों को फिर से खुशनुमा बनाने के लिए नल के नीचे ले जाकर उन्हें रगड़-रगड़ कर माँजना होगा। दीवारों पर जमे हुए धुवें द्वारा बन गई आकृतियाँ, अँगीठी का खाली खुला हुआ मुँह और कुचक्रियों के मन की तरह काले कोयलों का ढेर। सभी यही कह रहे थे—'उठो, नल के नीचे जाओ, मलमल कर इन बर्तनों को साफ़ करो, आग जलाओ, धुवाँ लगे तो आँखें मलो, बनाओ खाओ'—उफ़. . . .

उसने मन में 'उहुं' कह कर सभी पुकारों को डिसमिस कर दिया और कुर्सी पर अपने को डाल कर मेज़ के सामने लेट गया। अधूरी कविताएँ अधूरी कहानियाँ—आधी पढ़ी हुई किताबें एक के बाद दूसरी को छू-छूकर वह सोचने में लग गया। आज भी शाम का खाना टला। आदमी अकेला हो तो सब कुछ टाल जाए—कोई दूसरा हो तो अपने लिए नहीं तो उसके लिए ही सही कुछ तो करना ही पड़े मगर जब अपने ही लिए हो तो सौ मर्जों की एक दवा—'अरे टालो भी।' अगर शुरू-शुरू में सिर्फ़ एक ही आदमी होता तो शायद विकास सदा-सदा के लिए टल गया होता—ऊपर से भी विकास आया होता तो उस अकेले ने उसे टाल दिया होता। विकास की अनिवार्यता अनेका के कारण है—एक के कारण नहीं। अकेला 'एक' सब कुछ का

अधिकारी होते हुए भी विकास नहीं कर सकता क्योंकि टाल जाने का भी उसे अधिकार है और वह टाल कर ही रहेगा—जब तक रहेगा, टालता रहेगा। टालना ही उसका रहना होगा। करेगा तो तब जब कर्तव्य आ पड़ेगा—कर्तव्य—यानी दूसरे का अधिकार, कर्तव्य—यानी दूसरे का होना....

भन् न न...मन...एक आवाज़ आकर कानों पर बैठ गई। कान अपनी पसंद की आवाज के पास ख़ुद जाना पसंद करते हैं, मगर यह आवाज़—चूँकि इसे ख़ून चूसना होता है, ख़ुद ही कानों के पास चली आती है। वह अपने कानों पर हल्के से एक झटका देकर उठ खड़ा हुआ। उसकी निगाह एक बार फिर बर्तनों की तरफ गई मगर फिर उसने झटपट कमीज़ बदल डाली और स्विच दबा कर चारपाई पर आ रहा। अंधकार लौट आया। वह सोचता रहा कौन झंझट करे पल भर में तो सबेरा हो जायगा। पलक मूँदने और खोलने के बीच का समय—यानी एक पल, इतने भर के लिए झंझट कौन करे।

शाम की एक प्लेट पकौड़ियों और एक प्याले चाय का स्वाद उसके मुँह में खट्टा होकर आया। खाली पेट धीरे से कुड़कुड़ा उठा। पल भर की बात सोच कर उसने करवट बदल ली।

एक दूसरे से भिन्न—एक के बाद एक; असम्बद्ध—क्रमशः।

"स्कूल जाने को देर हो रही है अम्मा जल्दी खाना लाओ....उफ़ रोज मार पड़ती है।"

शाहजहाँ खेल का सीन चल रहा है—शाहजहाँ उपवास किए बैठे हैं—थाल पर थाल खाना आ रहा है—एक इशारे से शहंशाह मना करते जाते हैं—

मोटर जोरों से भागी जा रही है—बड़ा मज़ा रहेगा पिकनिक होगी—निकालो यार कुछ रास्ते में ही खाया जाय—खोलो झोली निकालो कुछ केले—सन्तरे—किर्र-झील ढाल—उई—कर्र—र्र—गड़म—क्रैश।

आँखें खुलीं तो घिग्घी बँधी हुई थी। सब कुछ लिए दिए अँधेरा ऊपर झुक आया था। थाली की झन्नाहट अभी तक हो रही थी। हल्की चाँदनी की पृष्ठभूमि में खिड़की पर बैठी हुई बिल्ली दिखाई दी। अंधेरे की हिलती-सी, छोटी-सी, एक गठरी—दो चमकते हुए बिन्दु। न जाने कौन बर्तन तोड़ गई हो—रोज़ का झंझट। जैसे दुश्मन सामने हो। वह मन-ही-मन उठ कर बैठ गया—फिर खड़ा हो गया, फिर सामना करने लगा—

हिश् हिश्—बिल—बिल्ली भाग गई। लड़ाई के बाद की कमजोरी—उसका हाथ सीने पर चला गया—धड़कन थी, माथे पर गया—गर्मी थी। बुख़ार है—ज़रूर बुख़ार है।

बुख़ार, परदेश, अकेले—

वह सोचता रहा। अब तो बुख़ार है नींद कैसे पड़ेगी—सबेरा भी होने ही वाला होगा—बाहर की चाँदनी फीकी पड़ गई है। मगर सबेरे क्या होगा? उन्होंने आने के लिए कहा है—कुछ खाने-पीने का प्रबन्ध तो होना ही चाहिए। मगर अकेले—तिस पर भी बीमार, कौन करेगा। उसने अपना हाथ एक बार फिर माथे पर रखा—सचमुच माथा गर्म था! कान के पास फिर भनभनाहटें शुरू हो गई थीं—मसहरी के बिना यह मौसम पार नहीं होने का—उसने हवा में हाथ मार कर फिर करवट बदल ली।

दूधवाला आकर नींद तोड़ गया था। हाथ माथे पर जा-जाकर बुख़ार का निश्चय ले आता था। मगर उन्होंने आने को कहा है कुछ प्रबन्ध तो करना ही होगा। वह गिरा हुआ-सा उठकर ज्यों-त्यों नित्यकर्म में लग गया। पड़ोसी कमरे के सामने कुर्सी डाल कर बैठा हुआ अख़बार पढ़ रहा था। उसने पास जाकर कहा—"ज़रा देखो भाई कुछ बुख़ार मालूम होता है—क्या सचमुच?" और हाथ आगे बढ़ा दिया। पड़ोसी ने हाथ छूकर कहा—"हाँ कुछ तो जरूर है"—और फिर अख़बार में नज़र गड़ा कर बैठ गया।

बस! बुख़ार है तो है, उसके बाद—? उसके आगे—? कुछ नहीं—?

बस ? झुँझलाहट हुई। किसी तरह उसने कहा—'कमरा खुला छोड़े जाता हूँ कोई आए तो बैठाना।' उनको भी आज ही आना था—तकलीफ़ देने के लिए। धीरे-धीरे वह सड़क की ओर चला गया।

डबल रोटी और मक्खन ले कर लौटा तो देखा कमरे में कोई नहीं था। वह बीमारों की तरह चारपाई पर लेट गया और इंतजार करने लगा।

कोई नहीं आएगा। तकलीफ़ देने के लिए भी कोई नहीं आएगा। इस कमरे में, इस मुहल्ले में, शहर के इस भाग में—संसार में इस स्थिति में उसे अकेले ही रहना है—कोई नहीं आएगा।

मगर इस डबल रोटी और मक्खन का क्या हो ? वह फिर हिम्मत करके उठा। डबल रोटी के स्लाइस बना डाले, स्टोव जला कर दूध चढ़ा दिया। फिर टोस्ट सेंके, फिर पानी चढ़ा कर टोस्टों पर मक्खन लगाने लगा। उसके मन में आया—शायद वे अब भी आ जाएँ—फिर आया—आएँ चाहे न आएँ।

कई प्याले चाय, टोस्ट और मक्खन के बाद वह चारपाई पर तकिया के सहारे अधलेटा हो गया। शाम को लाई हुए किताबें मेज़ पर पड़ी थीं। उपनिषदों की किसी कथा पर आधारित कुछ लिखना था, ठेके का काम था। मेज़ पर की अधूरी रचनाओं को ठंडी साँसों से देखकर वह ठेके पर के काम की सामग्री ढूँढ निकालने के लिए एक किताब के पन्ने पलटने लगा। एक प्रसंग पर निगाह ठहर गई।

ब्रह्मविद्या की दीक्षा देते हुए उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहा—"सौम्य, पन्द्रह दिन तक कुछ मत खाओ।"

पन्द्रह दिन तक निराहार रहकर श्वेतकेतु पिता के पास आया—"देव, क्या सुनाऊँ ?"

पिता ने आज्ञा दी—"सौम्य, ऋक्, यजु, साम के मंत्र सुनाओ।"

पुत्रा ने हताश वाणी में कहा—"देव क्षमा करें, मैं सभी मंत्र भूल गया हूँ।"

तदनन्तर पिता के आदेशानुसार श्वेतकेतु ने भोजन किया और सभी मंत्र उसकी जिह्वा पर उतर आए।

तब पिता ने कहा—"सौम्य, हमारा मन अन्नमय है। अन्न के अभाव में उसकी गति कहाँ?"

वह जैसे पल भर को ठहर गया। उसने महसूस किया कि चाय-टोस्ट ने अपना काम शुरू कर दिया है। माथे पर जाकर हाथ ने माथे के अन्दर यह पहुँचा दिया कि बुख़ार नहीं है। अचानक उसे स्फूर्ति मालूम हुई। वह दरवाज़ा खोलकर बाहर निकल आया।

बाहर दिन ज़ोरों पर था। साइकिलें, रिक्शे, इक्के सरपट इधर से उधर दौड़ रहे थे। दूध वाले दूध बेच कर लौट रहे थे। खोमचे वाले कड़कदार आवाजें लगा रहे थे। सामने मकान बन रहा था—कारीगर फ़ुर्ती के साथ ईंट पर ईंट चुनता जा रहा था। 'वह' भी पढ़ने के बहाने दुमंज़िले के कमरे की खिड़की पर आकर बैठ गई थी और उधर वाले मकान के सामने बुश्शर्ट पहने, गले में रूमाल बाँधे हुए 'वह' निकल आया था और कम से कम वहाँ तक तो पहुँच ही जाय इतनी आवाज में गाता हुआ टहल रहा था—

दाग़े दिल दाग़े जिगर दाग़े तमन्ना लेकर
मैंने वीरान बहारों को सजा रक्खा है

अचानक हवा का एक हलका झोंका आया। दाहिनी ओर के आम पर से कोयल 'कू-कू' 'कू-कू' करती हुई उड़ गई, कुछ और छोटी-छोटी चिड़ियाँ भी चहचहाती हुई 'फुर्र' 'फुर्र' उड़ गईं।

उसने ख़ुशी-ख़ुशी कमरे में आकर दरवाजा बन्द कर लिया। कुर्सी खींची और कुछ गुनगुनाते हुए अपनी एक अधूरी रचना को निकालकर सामने मेज़ पर रख लिया।

भोंपू

बहस खत्म होने ही नहीं आती थी। दिवाकर ने आखिरकार चाय की मेज पर हाथ पटक कर कहा—"मेरा मतलब तुम समझे ही नहीं। सवाल यह नहीं है, बल्कि—"

वीरेन्द्र ने बाज की तरह झपट्टा मार कर कमरे में घुसते हुए कहा—"हल्लो नरेश!"

नरेश के सिर से बहस का बोझ जैसे एकाएक उतर गया। एकदम वीरेन्द्र की ओर मुखातिब हो गया—"ओ वीरेन्द्र! कहो क्या हाल है, तुम्हारा कम्पेन कैसा चल रहा है? थके मालूम होते हो—लो चाय पियो। बनाओ भई दिवाकर पोर करो।"

दिवाकर अपराधी की तरह चुप हो गया था जैसे उसका सारा जोश-खरोश तो बेकार की बातों के लिए था और महत्वपूर्ण बातें तो अब शुरू होने को थीं। सिर झुकाए चाय ढालने लगा।

नरेश ने कहा—"चीनी कितनी डालूँ?"

वीरेन्द्र ने तत्परता के साथ कहा—"अरे न न् न न चीनी, न दूध, रात भर का जगा हूँ दिन भर न जाने कितना दौड़ना-धूपना पड़े। प्योर लीकर पियूँगा।"

दिवाकर ने प्याला वीरेन्द्र के सामने खिसका दिया। वीरेन्द्र

ने एक चुस्की ली तब तक नरेश पूछ बैठा—"हाँ तो क्या हाल है भाई ?"

वीरेन्द्र के तेवर तन गए—"कुछ नहीं, शर्मा पार्टी वालों की बदमाशी है। अथारिटीज़ से मिले हुए हैं, चापलूस कहीं के।"

दिवाकर ने चौंक कर कहा—"अंय शर्मा पार्टी धोखा दे गई। तब कैसे होगा ?"

वीरेन्द्र ने प्याला रखकर कहा—"अमाँ होगा क्या, जानते हो बनाने वाले से बिगाड़ने वाला बड़ा होता है। वे कहेंगे क्लासों में जाओ और हम कहेंगे मत जाओ, तो तुम्हीं बताओ लड़के किसकी मानेंगे ? क्लास में तो रोज़ ही जाते हैं, न सही एक दिन।"

नरेश ने संयत ढंग से कहा—"मगर भाई पालिटिक्स को छोड़ दो तो मैं तो उसी को ठीक समझता हूँ जो क्लास में जाने के लिए कहे।"

वीरेन्द्र गरम पड़ा—"और तुम्हारे जैसे बुद्धुओं की वजह से ही तो उन्हें ताक़त मिलती है। तुम लोग समझते तो हो ही नहीं, यह सब लीडरी का मामला है। पहले हम लोग पन्द्रह तारीख़ को चांसलर्स विज़िट के दिन ही स्ट्राइक करने वाले थे। तब उन लोगों ने बकना शुरू किया कि ये उपद्रवी हैं, चांसलर्स विज़िट में गड़बड़ करना चाहते हैं, स्ट्राइक १५ को नहीं बल्कि १७ को करो। हमने सोचा चलो यही सही। जब वे काफ़ी प्रचार कर चुके तब हमने स्ट्राइक १७ तारीख़ को निश्चित कर दिया। अब उनकी लीडरी गई छिन, इसी से पिनपिनाए हुए हैं।"

मोटी बात थी, नरेश क्या कोई भी समझ सकता था मगर नरेश से कहे बिना न रहा गया—"हाँ लीडरी का मामला तो है ही, इधर से भी और उधर से भी।"

जैसे आग में मिट्टी का तेल पड़ गया हो। वीरेन्द्र प्याला मेज़ पर रखकर पाँव पटक कर बोला—"इसीलिए तो कहता हूँ तुम सब बुद्धू हो बुद्धू, तुम्हारे दिमाग़ में भूसा भरा हुआ है।"

नरेश भी दबने वाला न था—"अगाँ साफ़ बात है, तुम्हीं ने कही है—सब लीडरी का मामला है।"

अब उलझाव और जोश की वह मिली-जुली स्थिति आ गई थी जहाँ पहुँच कर आदमी आसानी से नेता हो जाता है। वीरेन्द्र तड़प कर खड़ा हो गया—"यूनिटी का सवाल है, अथारिटीज़ डिसरप्ट करना चाहते हैं, ये साले टूल बन गए हैं, जानते हो किसके बल पर?—तुम्हारे जैसे बुद्धुओं के बल पर। मगर फिर भी वीरेन्द्र के गले में जोर है। अकेला स्ट्राइक कराऊँगा—देख लेना। मजाक है? यूनियन को वालंटरी बनाएंगे, हुं ह—कौन दौड़ा जाएगा यूनियन की मेम्बरी के लिए। इंडियन रिपब्लिक की नागरिकता को भी वालंटरी बना दीजिए।"

अब तक हास्टल के सामने लाउडस्पीकर आवाज़ उगलने लगा था —"भाइयो, कम्यूनिस्टों से सावधान। ये दग़ाबाज स्ट्राइक कराना चाहते हैं। आज ये यूनियन के बड़े भारी रक्षक बन गए हैं। हम पूछते हैं ये सन् बयालिस में कहाँ थे जब हमने कुरबानी की थी—भाइयो हम आपसे फिर अपील करते हैं कि आप इन दग़ाबाजों के बहकावे में न आएँ—जहाँ तक यूनियन की मेम्बरशिप का सवाल है हम खुद निगोशिएशन कर रहे हैं और जल्दी ही अपने प्रिय विद्यार्थी नेता डा० रामहरख सिंह के नेतृत्व में हम अपनी शानदार लड़ाई शुरू करेंगे। आप तब तक धीरज धरें—कम्यूनिस्टों से बचें, स्ट्राइक न करें—विद्यार्थी एकता—ज़िन्दाबाद।"

नरेश और दिवाकर चाय पीना बन्द करके एलान सुनने लगे थे। वीरेन्द्र ने चुस्कियाँ लेनी शुरू कर दी थीं कि तुम्हारे बकने से क्या होता है हम सुनते ही नहीं। एलान खत्म होते ही नरेश ने कहा—"क्या सचमुच कम्यूनिस्ट स्ट्राइक करा रहे हैं?"

वीरेन्द्र ने चिढ़े हुए ढंग से कहा—"बकते हैं। हमारा किसी आइडियालाजी से वास्ता? हम तो स्टूडेन्ट हैं, जो हमारी माँगों को मान ले हम उसी के साथ हैं, न कम्यूनिस्ट न सोशलिस्ट।"

दिवाकर ने कहा—"कुछ भी हो यह स्ट्राइक सफल हो गई तो तुम यहाँ

के कम्यूनिस्ट नेता मशहूर हो जाओगे। फिर यूनियन की प्रेसीडेन्टी तो कोई चीज़ ही नहीं है।"

वीरेन्द्र के चेहरे पर ठीक-ठीक कौन भाव आया यह नहीं कहा जा सकता। एक घूँट में प्याले की बाक़ी चाय पीकर कुछ मुस्कराते हुए ग़ुस्से के साथ उसने मेज़ पर से शीशा उठा लिया और अपने बिखरे हुए बालों को ग़ौर से देखने लगा।

साढ़े नौ बजते-बजते यूनिवर्सिटी के गेट पर लड़कों की भीड़ जमा होने लगी। विद्यार्थी स्ट्राइक करें ऐसा तो सुना गया था लेकिन विद्यार्थी ही स्ट्राइक का विरोध भी करें ऐसा तो कभी भी नहीं सुना गया था। सभी तमाशा देखने के लिए उमड़े चले आ रहे थे। चूँकि यूनिवर्सिटी उस जगह को कहते हैं जहाँ लँगड़े-लूले, काले-गोरे, नाटे-लम्बे, आड़े-तिरछे, काने-टेपंखे सभी तरह के लड़के पढ़ते हों इसलिए सभी तरह के लड़के सभी ओर से चले आ रहे थे। यूनिवर्सिटी के अन्दर प्रवेश करने के कई गेट थे लेकिन लड़के इसी गेट पर खिंचे चले आ रहे थे क्योंकि यहाँ पर दोनों दलों के लाउडस्पीकर गरज रहे थे और कुछ बेवकूफ़ों को छोड़ कर इतना तो सभी जानते हैं कि अपनी आवाज को जनता तक पहुँचाने का एक ही उपाय है—लाउडस्पीकर यानी भोंपू। जो भोंपूशास्त्र के मर्मज्ञ हैं वे एक क़दम आगे की बात भी जानते हैं कि पहले आवाज़ जनता तक पहुँचाई जाती है और उसके बाद जनता खुद आवाज़ के पास पहुँचने लगती है—भोंपू के चारों ओर चक्कर काटने लगती है। आवाज़ जनता तक पहुँचाई जा चुकी थी, अब जनता आवाज़ तक पहुँच रही थी। गेट की दाहिनी ओर शर्मा पार्टी ने अड्डा जमाया था और बाईं ओर वीरेन्द्र पार्टी ने। वीरेन्द्र के बाल और भी बिखरे हुए थे और उसकी मज़बूत मुट्ठी हवा को साफ़ चीरती हुई ऐसा लहराती थी जैसे पहाड़ों को उलट देने के हौसले दिखला रही हो और शर्मा जी तो अपने दोनों हाथों के वो-वो उतार-चढ़ाव दिखला रहे थे कि कितना भी कुशल गीता-रामायण प्रचारक क्यों न हो यूनिवर्सिटी की उच्च शिक्षा

पाए बिना हरगिज नहीं दिखा सकता। बड़े महान् त्याग की भावना उस उतार-चढ़ाव में थी! और साथ-ही-साथ उसका प्रदर्शन निहायत नाज़ुक और नफ़ीस था।

भीड़ और बढ़ी तो धीरेन्द्र ने कुछ पिकेट गेट पर तैनात कर दिए और आप एक पेड़ की डाल पर माइक्रोफ़ोन हाथ में लेकर बैठ गया। फोटोग्राफ़र, कवि, चित्रकार, उपन्यासकार, कहानीकार, दार्शनिक, अर्थशास्त्री आदि आदि तथा मि० मेहरोत्रा, सभी उपयुक्त स्थान ढूंढ कर खड़े हो गए। मि० मेहरोत्रा का नाम अलग से इसलिए लेना पड़ रहा है कि वे उन महान् हस्तियों में से थे जिनको जातिवाचक संज्ञा द्वारा स्मरण ही नहीं किया जा सकता। मोटे तौर पर उन्हें समाज-सुधारक या ऐसा ही कुछ कहा जा सकता था मगर कोरे सुधारवाद में पड़कर कर्मठता से मुँह मोड़ लें ऐसे कायर नहीं थे मि० मेहरोत्रा। वे उनमें से थे जो कहते कम हैं मगर कर गुज़रते हैं, बड़े मौक़ों का इन्तज़ार नहीं करते बल्कि छोटे मौक़ों को ही बड़ा बना देते हैं।

इस सब के बावजूद केवल क्लाइमेक्स सोच कर लिखी गई कहानी के प्रारम्भ की तरह सब कुछ फीका लग रहा था—कहीं रस न दिखाई देता था। फोटोग्राफ़रों के सामने जैसे कोई आब्जेक्ट नहीं था। कवि विषय-विहीन से थे, चित्रकार रंगों से दूर, उपन्यासकार जीवन से अपरिचित, कहानीकार प्लाट की खोज में, दार्शनिक आंतरिक अशांति में तथा अर्थशास्त्री, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तक पहुँचने से पहले की स्थिति में थे। मि० मेहरोत्रा को भी कुछ कर गुज़रने का मौक़ा नहीं मिल रहा था।

तभी लड़कियों का एक दल आता हुआ दिखाई दिया। भीड़ में उत्साह और आवाज़ों का एक लहरा-सा दौड़ गया जैसे रसहीन कहानी भी कभी-कभी क्लाइमेक्स पर पहुंचकर दिलचस्प हो जाती है। फोटोग्राफ़रों ने क्लिक किया। कवियों ने कल्पना की कमान तानी। चित्रकार ने अपने से पूछा रंगों की प्रतिमा हे नारी क्या तुम्हीं हो। उपन्यासकार ने अपने नायक का 'लव एट दि फर्स्ट ग्लांस' कराने का निश्चय किया। कहानीकारों को अपनी असफलता के कारण और सफलता की सीढ़ी साथ-साथ दिखे।

दार्शनिक ने सोचा हे रहस्यमयी तुम नाना रूपों में अखिल जगत् में समाई हुई हो। अर्थशास्त्रियों ने क्रिया-प्रतिक्रिया की प्रक्रिया का अनुमान करके मुटिठयाँ तान लीं और मि० मेहरोत्रा ने आव देखा न ताव चट से जाकर पिकेटों के साथ जमीन पर लेट गए।

'विद्यार्थी एकता-जिन्दाबाद' के गगनभेदी नारों के बीच मि० शर्मा ने ऊँचे स्वर में कहना जारी रक्खा कि—"दोस्तो! आखिर हम लोग यहाँ पढ़ने के लिए आए हैं या स्ट्राइक करने के लिए, देखिए इतनी-इतनी दूर से हमारी बहनें आई हुई हैं इसका मतलब यह है कि वे स्ट्राइक के पक्ष में नहीं हैं और क्लासों में जाना चाहती हैं। मैं कहता हूँ कि ऐसी दशा में उनके रास्ते में लेटकर उन्हें जबरदस्ती रोक देना क्या नाजायज काम नहीं है। मैं कहता हूँ कि गेट खुला छोड़ दिया जाय और स्ट्राइक करने या न करने का फ़ैसला खुद विद्यार्थियों पर छोड़ दिया जाय...."

वीरेन्द्र की गरज बढ़ती जा रही थी—"यह यूनियन की ज़िन्दगी का सवाल है, विद्यार्थी एकता का सवाल है। आज जो हमारे पिकेटों के ऊपर पैर रखकर आगे बढ़ेंगे वे यूनियन की लाश पर पैर रखेंगे—भाइयो मैं कहता हूँ कि वे दुश्मन हैं विद्यार्थी एकता के....."

मगर मि० मेहरोत्रा चूँकि मौलिक थे इसलिए उनकी राय इसके विरुद्ध थी। उनके हिसाब से अगर लड़कियाँ आई ही थीं तो उन्हें अंदर भी जरूर जाना चाहिए था—लेकिन पिकेटों के ऊपर पैर रख कर ही। वे लेटे-लेटे चिल्ला रहे थे—"उन्हें रोको मत; अगर वे हमारे ऊपर पैर रखकर जाना चाहती हैं तो जाने दो। मत रोको, लेट देम गो।" मगर कौन सुनता था।

शर्मा का गला भी थकना नहीं जानता था—"मैं कहता हूँ कि स्ट्राइक की क्या जरूरत है। हमारे अध्यापकों ने हमसे अपील की है कि हम नियम भंग न करें, हमें अवश्य ही उनके आदेशों की रक्षा करनी चाहिए...."

वीरेन्द्र ने दूने वेग से गरज कर कहा—"और सुनिए—मालूम हुआ है कि वाइस चांसलर ने सब प्रोफ़ेसरों को यह हुक्म दिया है कि वे सब अनुपस्थित लड़कों की सूची बना कर उनके पास भेजें, उन पर जुर्माना किया

जायगा। मैं कहता हूँ कि स्ट्राइक करना हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। क्या आप अपने अधिकारों की इस तरह हत्या होना बरदाश्त करेंगे—हरगिज़ नहीं। यह तानाशाही है, ब्रिटिश-राज में भी ऐसा नहीं हुआ। आज एक भी लड़का क्लास में नहीं जायगा। हमें देखना है कहाँ तक जुर्माना होता है। दोस्तो घबड़ाना नहीं, अगर जुर्माना हुआ तो हम फिर एक दूनी शानदार लड़ाई लड़ेंगे......"

वीरेन्द्र के मद्धिम पड़ते ही शर्मा जोर पकड़ लेता—"यह सरासर चाल है—कम्यूनिस्टों की चाल है, मैं आप से कहता हूँ कि यह धोखा है—ये लड़ाई लड़ने की दुहाई देने वाले मैं पूछता हूँ तब कहाँ थे जब हमने अपने सीनों पर गोलियों की बौछारें सही थीं, कुरबानी की थी"—यह कह कर उन्होंने दूर खड़ी लड़कियों की ओर गर्वपूर्वक सीना उभार कर देखा और कहते गए—"आखिर आज तक आपकी सभी लड़ाइयाँ किसने लड़ी हैं। मैं कहता हूँ यूनियन बाद में टूटेगी मेरा खून पहले बह जायगा। मैं आपकी और अपनी सब की ओर से यह एलान करता हूँ कि विद्यार्थी एकता की लड़ाई हमारी अपनी लड़ाई है मगर हम कम्यूनिस्टों के फन्दे में नहीं फँसेगें—नहीं फँसेंगे।"

वीरेन्द्र कह रहा था—"लाल काली टोपियों में मुँह छिपाने वाले ये अवसरवादी आज हमें धोखा देने पर उतारू हो गए हैं। दोस्तो हमें फ़रेब में नहीं आना है, हमें ठीक-ठीक देख लेना है कि इनके पीछे किसका हाथ है। यह अवसरवादिता विद्यार्थी समाज के लिए शर्म की चीज़ है—ये यूनियन का नुकसान तो बाद में करेंगे, पहले अपना ही नुकसान करेंगे . . ."

वक़्त बीतता जा रहा था। कोई सवा दस बज गये थे। लड़कियाँ लौट गई थीं। कुछ प्रोफ़ेसर और जो लड़के दूसरे गेटों से अन्दर चले गये थे, गेट के उस ओर से आकर दिलचस्पी लेने लगे थे। प्रोफ़ेसरों को देखकर वीरेन्द्र पार्टी वालों का उत्साह कुछ कम हुआ शर्मा पार्टी वालों को शह मिली, पिकेटों में से अधिकांश पल्ला झाड़ कर उठ खड़े हुए थे। वफ़ादारी

दिखाने के लिए शर्मा पार्टी वालों ने बाकी पिकेटों को ज़बरदस्ती उठाकर खड़ा कर दिया और भीड़ की भीड़ चहारदीवारी के अन्दर घुस गई। दोनों पार्टियों के लाउडस्पीकरों वाले तांगे चहारदीवारी के बाहर ही रहे।

वीरेन्द्र हताश होकर चिल्लाने लगा—"यह सरासर ज़बरदस्ती है; हमारे पिकेटों को मारा गया है। मैं चुनौती देता हूँ—शांतिपूर्ण ढंग से लड़ाई लड़ो क्यों बेईमानी करते हो।"

मगर कोई असर होता न दीखा तो वीरेन्द्र चीखा—"और इन गुण्डों ने उन्हें मारा भी है—धिक्कार है, शेम-शेम . . ."

इतना सुनना था कि वीरन्द्र पार्टी वाले उत्तेजित हो गए। शर्मा के समर्थक उत्साह में आकर चहारदीवारी के अन्दर चले गए थे और उनका ताँगा अरक्षित ही रह गया था। जोश में आकर वीरेन्द्र पार्टी वालों ने उनका लाउडस्पीकर छीन लिया और शायद कुछ चांटे भी रसीद किए। उत्तेजित भीड़ का दूसरा नेता छीने हुए लाउडस्पीकर पर ज़ोरदार शब्दों में शर्मा पार्टी वालों को खरी-खोटी सुनाने लगा। कुशल नेता की तरह वीरेन्द्र पेड़ पर से बैठे-बैठे शांति क़ायम रखने की अपील करने लगा। अपने लाउड-स्पीकर को वापस छीन लेने के लिए शर्मा के समर्थक सब ओर से दौड़े, तनातनी बढ़ी, चहारदीवारी के भीतर और बाहर भीड़ ही भीड़ इकट्ठी हो गई।

किसी तरह शर्मा पार्टी वालों को अपना लाउडस्पीकर वापस मिला और वे दूनी शिकायत के साथ उस पर अपनी वाग्धारा प्रवाहित करने लगे। भगदड़ फिर से शांत हुई। सब लोग सुनने और आपस में विचार-विमर्श करने लगे। अब तक चायवाले, खोमचेवाले, ड्राईक्लीनर्स, फोटोग्राफ़रों के एजेन्ट और पान-सिगरेट बेचने वाले लड़के जगह-जगह आकर खड़े हो गए थे और अच्छा बिज़िनेस होने लगा था। मास्को पब्लिकेशन्स तथा सेकेन्ड हैंड किताबों को बेचनेवालों ने भी थोड़ा-सा हटकर सड़क के किनारे अपनी दूकानें बिछा दी थीं। लड़कपन में एक कहावत सुनी थी कि जहाँ चार आदमी इकट्ठा होते हैं वहाँ कुछ खटपट हो ही जाती है। लगता

है यह कहावत सामन्ती युग की उपज थी, आजकल इस कहावत का पूँजी-वादी संस्करण हो गया है कि जहाँ चार आदमी इकट्ठे दिखे वहीं पाँचवाँ दूकानदार के रूप में आकर शामिल हो गया। इन पाँचवें लोगों की संख्या बढ़ती ही जा रही थी।

अबकी शर्मा पार्टी वालों की बारी थी, उनका लाउडस्पीकर विष उगल रहा था—"देखी आपने यह कम्यूनिस्टों की चाल! क्या यही है इनका शान्ति प्रेम! भाइयो आप सावधान रहें यह शांति का नारा महज़ एक धोखे की टट्टी है। इनके सारे उपाय हिंसात्मक हैं। अभी आपने इनके काले कारनामे देख लिए। हमारे लाउडस्पीकर को छीन कर हमारी लिबर्टी आफ़ स्पीच को छीन लेने की कोशिश अभी इन लोगों ने की। शर्म आनी चाहिए ऐसे लोगों को. ."

वीरेन्द्र सफ़ाई देने में लगा हुआ था क्योंकि जनमत उसके विरुद्ध हो जाने की पूरी आशंका थी—"आप लोग शांति हरगिज़ न भंग होने दें, हमारी लड़ाई वैधानिक लड़ाई है। हम यूनियन के लिए लड़ते हैं और यूनियन ही हमारी ताक़त है। हममें फूट हरगिज़ नहीं पैदा होनी चाहिए—भाइयो—यूनिटी इज स्ट्रेंग्थ . . ."

गेट खुला पड़ा था। फिर से पिकेट नहीं लिटाए गए थे। जिसका मन होता अंदर चला जाता जिसका मन होता बाहर निकल आता। किसी तरफ़ से कोई रोक नहीं थी। लड़ाई आवाज़ों में हो रही थी।

सबके चेहरों पर ढाई-तीन घंटों की अथक मेहनत की छाप पड़ गई थी। सारा उत्साह थकावट में बदल चुका था। टुटपुँजिए खोमचेवाले सब कुछ बेच-बाँच कर लौट गए थे या लौट रहे थे। दोनों पार्टी वालों के दिल बैठ गये थे फिर भी कुछ-न-कुछ बोले जा रहे थे। साढ़े बारह बज चुके थे। ऊपर तेज़ सूरज चमकने लगा था। सबके चेहरे पसीने-पसीने हुए जा रहे थे। दोनों पार्टी वाले अपने प्रयासों को असफल मान चुके थे। फिज़ाँ ही कुछ ऐसी हो गई थी। फिर भी दोनों दल ज्यों-त्यों अपनी-अपनी सफलता

की डींग हाँक रहे थे। दोनों ओर वालों के गले पड़ गये थे। आवाज़ भाँय-भाँय करने लगी थी। सारांश यह कि सब कुछ बेमज़ा हो चला था। आख़िरकार दोनों दल वालों ने जैसे-तैसे अपने समर्थकों को धन्यवाद दिया और इसी नाते स्वयं अपने को मुबारकबादियाँ दीं और तितर-बितर होकर अपनी-अपनी राह जाने लगे।

लाउडस्पीकर पर यह घोषणा होने लगी कि 'ये जो दोनों लाउडस्पीकर अभी तक आप लोगों की सेवा कर रहे थे ये 'गर्जन-कम्पनी' के हैं; याद रखिए आपकी आवाज़ को ज़ोरदार बनाने के लिए 'गर्जन-कम्पनी' आपकी सेवा के लिए सदैव हाज़िर है---'गर्जन-कम्पनी'।

झूठा

दिन भर घूमघाम कर जब हम यानी मैं और रमेश काफ़ी-हाउस में दाख़िल हुए तब तिलक भी हमारे साथ था। काफ़ी देर से हम लोग इधर-उधर घूम रहे थे। कई पुराने मित्रों और नए परिचितों से मुलाक़ात हुई थी। उन्हीं में से किसी ने हमारा उससे परिचय करा दिया था और वह हमारे साथ हो लिया था।

तिलक का यों अपने साथ हो लेना हम दोनों को अखरा था पर अब इसके सिवा कोई चारा न था कि तीन मिक्स्ड काफ़ी मँगा कर शोरगुल के उस समुद्र में हम चुप्पी के एक द्वीप से बनकर बीस-पच्चीस मिनट बैठे रहते। काफ़ी के लिये आर्डर देते समय तिलक ने बैरे से कहा—"भई मेरे लिये क्रीम काफ़ी लाना और हाँ एक प्लेट वेफ़र भी।" इतना कहकर मेरी ओर मुड़ कर कहने लगा—"भाई साहब माफ़ कीजिएगा मैं थोड़ा-बहुत इसका आदी हूँ।" यह बात उसने कुछ ऐसे बच्चों के से ढंग से कही कि मेरे मन में जो तनाव अभी-अभी बढ़ गया था वह थोड़ा कम हो गया और मैंने कोशिश करके तिलक में दिलचस्पी लेनी शुरू की।

तभी वह रमेश की ओर सिर घुमाकर बोल उठा—"क्या बात है भाई साहब आज आप इतने उदास क्यों जान पड़ रहे हैं?" उसका इस तरह प्रश्न करना बहुत ही विचित्र था क्योंकि निश्चित रूप से वह उस दिन हमसे

पहली बार ही मिला था। फिर भी उसकी बच्चों जैसी सरलता ने हम दोनों का ध्यान किसी दूसरी ओर न जाने दिया। मैंने अनुभव किया कि रमेश भी उसके गुण पर मुग्ध हो चला था। अभी-अभी उसके चेहरे पर तनाव की जो रेखाएँ उभर आई थीं वे अन्दर-ही-अन्दर सिमट कर ग़ायब होने लगी थीं।

रमेश का और मेरा साथ बहुत पुराना है और मैं जानता हूँ कि तनाव से छुटकारा पाने के ऐसे मौकों पर वह जीवन की कोई दर्दनाक घटना सुना कर खुद तो हल्का हो लेता है और दूसरों को दुख और दर्द के धुंध में भटका देता है। ऐसे वक़्त उससे जो कुछ भी कहा जाए, कोई और चर्चा चलाने के लिए कोई भी बातचीत की जाए, उसे कहीं-न-कहीं से अपनी रामकहानी सुनाने का सूत्र मिल ही जाता है। थोड़ी देर बाद रमेश अपनी पत्नी के बारे में कुछ कह रहा था। कुछ ही महीनों पहले उसकी पत्नी की मृत्यु अचानक हो गई थी।

रमेश की बातें सचमुच बहुत दर्दनाक थीं। कई बार सुन चुकने के बावजूद मैं उन्हें सुनकर फिर दुखी हुआ। मैंने चंद सेकेंड टेबुल पर अर्थ-हीन रेखाएँ खींचने के बाद आँख उठाकर देखा तो रमेश तो निर्विकार हो चुका था परन्तु तिलक की आँखें काफ़ी के प्याले ही में बेतरह डूबी हुई थीं। उसने दोनों हाथों से प्याले को ज़ोर से पकड़ रखा था। उसके चेहरे पर ख़ून चढ़ आया था और कनपटियाँ सुर्ख़ हो गई थीं। ज़ाहिर था कि रमेश की आपबीती सुनकर वह बहुत हिल गया था। हम सकते में आ गए से काफ़ी देर तक बैठे रहते मगर उसने फ़ौरन ही रमेश का हाथ अपने हाथ में लेकर कहना शुरू किया——

"भाई साहब आप की बातें सुनकर मैं कह नहीं सकता मुझे कितना दुख हुआ है आपकी बातों ने मुझे झकझोर कर रख दिया है। आखिर आपने यह सब क्यों कहा।"——कहते-कहते वह सचमुच रोने लगा। अब हमारी स्थिति बड़ी ही विचित्र हो गई। ख़ैर हमने उसे किसी तरह ढाढस दिया, ठंडा पानी पिलाया, बैरे को बुलाकर गर्म काफ़ी का आर्डर दिया और जब

देखा कि तिलक कुछ कह सकने की हालत में आ गया है तो उससे बड़े प्यार के साथ पूछा कि आखिर बात क्या है, क्यों तुम इस कदर दुखी हो गए।

तब तिलक ने बहुत ही अनिच्छापूर्वक बताया कि एक बार वह अपनी प्यारी पत्नी के साथ कार ड्राइव कर रहा था। अचानक उसकी ही असावधानी के कारण ऐक्सीडेंट हो गया। उसने बताया कि वैसे वह बहुत ही कुशल ड्राइवर है और खूब पीकर बखूबी ड्राइव कर सकता है लेकिन उस दिन दुर्भाग्य की मार जो होनी थी, ऐक्सीडेन्ट हो गया, और वह तो साफ़ बच गया मगर उसकी पत्नी की तत्काल मृत्यु हो गई। पुलिस ने उसके ऊपर रैशड्राइविंग का मुक़दमा भी चलाया मगर अदालत ने सहानुभूतिवश उसे साफ़ छोड़ दिया। तभी से उसने अपना सारा कारोबार छोड़ रखा है और यहाँ-वहाँ भटक रहा है, दिल्ली तक आ पहुँचा है मगर माँ-बाप तक जाने की इच्छा नहीं होती।

तिलक की व्यथा सचमुच मन को बेधने वाली साबित हुई और हम दोनों अपनी सहानुभूति दिखाने में होड़ करके जुट पड़े। रमेश अपना सारा दुख भूल गया। उसने पूछा—"यह कब की बात है?" तिलक ने उसी तरह उदास होकर कहा—"कोई तीन महीने हुए होंग।" मैंने पूछा—"किस शहर में?" उसने सहज भाव से कहा—"पेरिस के बाहर एक कस्बे की ओर जाते समय।"

हम दोनों की आँखें चौड़ी हो गईं। मगर उसने हमें ज्यादा ताज्जुब करने का मौक़ा नहीं दिया। उसने कहा—"बात यह है कि एनी को इंग्लैंड की बनिस्बत पेरिस ही ज्यादा पसन्द थी।" रमेश के मुँह से निकल गया "एनी!"

उसने कहा—"हाँ मेरी वाइफ, उसी के कहने पर मैंने अपना तबादला लंदन से पेरिस करा लिया था।"

मैंने अटकते हुए कहा—"तो....आप।"

वह लगभग हँस पड़ा—"हो-हो आपको तो यह बताया ही नहीं। बात यह है कि मैं यूनेस्को में काम करता था। निरीक्षण का काम था। देश-विदेश कहीं भी घूम सकता था।" यह कह कर उसने अपने बैग से निकालकर

बहुत से यूनेस्को के पैम्फ्लेट दिखाए, और एक छपे हुए फ़ार्म पर रोशनाई से लिखा हुआ अपना नाम भी दिखाया इसके बाद उसने अंग्रेजी में कहा—"मगर वह सब अब ख़त्म हो गया है मुझे ख़ुशी है कि आख़िरकार मैं अपने देश में हूँ।"

वातावरण फिर से गंभीर हो गया। बात बोलने से अधिक सोचने की हो गई थी। हम दोनों के सामने २७-२८ साल का एक औसत क़द का नौजवान बैठा हुआ था। जिसमें ज़ाहिरा तौरपर कहींकोई खास बात न थी मगर जीवन के अनुभवों में वह हमसे कई गुना बढ़ा-चढ़ा था। मृत्यु, दुर्घटना आदि के विचार तो शायद उस वक्त हमारे मन में नहीं उठ रहे थे। सिर्फ़ पेरिस, मोटर, एनी और यूनेस्को आदि तीन चार शब्दों पर हमारा ध्यान केन्द्रित हो गया था। मुझे लगा कि जैसे हम दोनों का क़द कुछ छोटा होता जा रहा है। अचानक हम कुछ नाटे होते जा रहे हैं और हमारे सामने बैठा हुआ तिलक बढ़कर कुछ इतना बड़ा हो गया कि हम उसकी मिसाल भी आसानी से नहीं ढूँढ़ सकते।

इसी तरह थोड़ी देर हम चुप बैठे रहे होंगे कि तिलक ने शान्ति भंग की। रमेश का हाथ उसने हाथ में लेते हुए कहा—"चलिए भाई साहब अब उठेंगे न। आपने इतनी बात कही तो मुझे भी कुछ बातें याद हो आईं और न जाने क्यों मैं यह सब कह भी गया; नहीं तो यह सब मैं किसी से कहता नहीं।"

काफ़ी-हाउस के बाहर तिलक ज्यादा देर तक हमारे साथ नहीं ठहरा और फिर मिलने का वादा करके चला गया। उसके बाद कई दिनों तक हम उसे याद करते रहे। उसके बारे में बातें करते रहे। मगर वह नहीं दिखाई दिया।

कुछ ही दिनों की बात है मुझे निरंजन मिला। मिलते ही उसने पूछा—"और कहो उस दिन तिलक साहब आप लोगोंके साथ लग लिए थे। कब पिंड छोड़ा?" अचानक मुझे याद आया कि निरंजन ने ही उसे हमसे मिलाया था। मैंने कहा—"तुम्हें उसका पता मालूम है? मैं तो उससे मिलना चाहता

हूँ। असल में मैंने और रमेश ने एक योजना बनाई है जिसमें तिलक की सहायता की बड़ी जरूरत है।"

निरंजन ने कुछ ताना-सा देते हुए कहा—"अच्छा तो अब तिलक साहब आपके अन्तरंग भी हो गए हैं।"

मैंन कुछ झुँझलाकर कहा—"यार तुम उसके बारे में इस तरह क्यों बात करते हो। जानते नहीं हो वह आदमी बड़े काम का है। आखिर तुम उसे कब से जानते हो?"

निरंजन ने कहा—"कब से क्या, वह हमारी महज़ दूसरी मुलाक़ात थी तभी वह तुम लोगों के साथ हो लिया था।"

मैंने निरंजन को सीख-सी देते हुए कहा—"तो जनाब जान लीजिए वह कोई ऐसा-वैसा आदमी नहीं है। वह यूनेस्को में एक ऊँचे पद पर है। लंदन पेरिस घूमा हुआ है।"

इस पर निरंजन ठठा कर हँस पड़ा—"अमाँ झूठा है, झूठा। किसके फेर में पड़े हो। जानते हो, हज़रत की मुलाक़ात ट्रेन पर कपिल से हो गई थी। वह अपने पिता का क्रियाकर्म करके लौट रहा था। कपिल को उसने बताया कि उसके बाप गाँव के पुराने ज़मींदार या यों कहें कि छोटे-मोटे ताल्लुक़ेदार थे। जमींदारी उन्मूलन के बाद की बढ़ती हुई तंगी ने उन्हें तोड़ डाला और उनकी मृत्यु हो गई। अब वह नौकरी की तलाश में दिल्ली जा रहा है। मुझसे मिला तो बताया कि उसकी माँ बचपन में मर चुकी है। पिता बड़े गुस्सैल हैं। वह ज़्यादा दिनों तक उसका खर्चा बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं हैं, मगर करे तो क्या करे। अपनी सारी कोशिश के बावजूद वह तीसरी बार एम० ए० की परीक्षा में फ़ेल हो गया है। तो भइया मैं तो जान गया, वह झूठा है झूठा। कुछ लोगों को जैसे झूठ बोलने की बीमारी हो जाती है। ऐसों से तो भगवान् ही बचाए। मुझसे तो तबसे मिला ही नहीं न मैं ही चाहता हूँ कि वह फिर मिले।"

मुझे मालूम था कि निरंजन भी इस साल फ़ेल हो गया था और काफ़ी परेशान था। मैंने अपने अंदर अच्छी तरह तौलकर यह जान लिया

कि मैं तिलक से बेज़ार नहीं था। बल्कि उससे और भी मिलना चाहता था।

निरंजन कहता जा रहा था—"मगर कम्बख़्त की सूरत कुछ ऐसी है, उसके चेहरे पर कुछ ऐसा भोलापन है, कि अगर एकाएक वह मेरे सामने आ जाए तो सब कुछ जानते हुए भी मैं उसका तिरस्कार नहीं कर सकता।"

तब से निरंजन से भी भेंट नहीं हुई है। मैंने तिलक की तीनों राम कहानियों के बारे में ख़ूब सोचा है। कपिल पिता का क्रिया-कर्म करके लौट रहा था, उसको तिलक ने अपने पिता की मृत्यु का हाल सुनाया। निरंजन फ़ेल हो गया था, उसको तिलक ने बताया कि वह भी फ़ेल होकर घर से भागा हुआ है। और रमेश की पत्नी की मृत्यु की बात सुनकर उसने अपनी तीसरी कहानी सुनाई थी। क्या यह रहस्यपूर्ण बात नहीं है। मुझे अवश्य ही तिलक को ढूँढ निकालना चाहिए। इस गुत्थी को सुलझाना ही होगा, मगर उसका पता मिले तो कहाँ से मिले। वह झूठा जो है।

अभी शाम के अख़बार में यह ख़बर छपी है कि पुलिस थाने में आज एक विचित्र अपराधी हिरासत में लिया गया है। पुलिस अरसे से एक ख़ून के मामले में खोज कर रही थी। अपराधी ने वारदात का जो विवरण दिया है वह सोलहों आने ठीक है। उसने अपना जुर्म मान भी लिया है। मगर पुलिस के पास अपराधी की जो हुलिया दर्ज है वह इस अपराधी की नहीं है। तहक़ीक़ात करने के लिए पुलिस ने इस विचित्र अपराधी को नज़रबन्द कर लिया है।

अब देर करने के लिये वक़्त नहीं है। मुझे शत प्रतिशत विश्वास है कि यह विचित्र अपराधी तिलक ही होगा और कोई हो ही नहीं सकता। मैं अभी थाने जा रहा हूँ। तिलक को इस पागलपन से बचाना ही होगा। तिलक जैसे होते कितने हैं।

सर्वहारा

गोविन्द बाबू ने बिना खाँसी आये ही थोड़ा-सा खाँसकर गला साफ़ किया और कहना जारी रखा—"अरे, इतनी बरसात हो रही है। पुराना घर ठहरा, एक बार खोलकर देख ही लिया होता, कितना टपका, कितना गिरा, कुछ तो मालूम हो जाता।"—और फिर खँखारकर एक ओर थूककर दूसरी ओर देखने लगे, जैसे इन सब बातों के कहने में उनका कोई स्वार्थ न हो।

सुकुल ने कहा—"देखना क्या है, जब रहनेवाले ही न रहे, तब घर किसके लिए खोलूँ? रही टूटने-गिरने की, सो तो आज नहीं तो कल गिरेगा ही। आखिर किसके लिए मरम्मत कराऊँ? पैसा भी कहाँ है? पंडिताइन के मरते ही पुरोहिती भी छोड़ दी। अब तो बस जनेऊ बनाता हूँ, इसी की कमाई है। इसमें क्या खाऊँ और क्या मरम्मत कराऊँ? चार पैसे जुटें, तो पंडिताइन की गया कर आऊँ।"

इतना सुनते ही गोविन्द बाबू जैसे जल्दिया उठे, लेकिन फिर सँभलकर बोले—"अरे, गया कौन बड़ी बात है, चाहो तो इसी कुवार में कर आओ। क्या पंडिताइन कुछ छोड़ न गई होंगी?"

सुकुल ने तकली पर सूत लपेटते हुए कहा—"हाँ, छोड़ गई थीं कोई चालीस रुपए। उनमें कुछ तो उन्हीं को गंगाजी पहुँचाने में खर्च हो

गये और बाकी से अब तक खाता चला आ रहा हूँ। हर साल लगनों में साल भर के लिए इन्तजाम हो जाता था, इस बार सारी लगन उन्हीं की दवा-दारू में लगा रहा, इसीलिए अब तो सभी कुछ बाजार से ही खरीदना पड़ रहा है"—और सूत से हिलगा कर तकली को जाँघ पर ज़ोर से रगड़ कर नचा दिया और तब उसकी ओर अर्थहीन दृष्टि से देखने लगे।

गोविन्द बाबू ने दूरदर्शिता दिखलाई—"मगर गया तो तुम्हें इसी साल कर आना चाहिए, नहीं तो इस साल काम करना पड़ेगा, और गया फिर कभी अलग से, उसमें भी तो खर्चा बैठेगा। इससे तो यही अच्छा है कि तुम इसी साल गया कर आओ"—इस प्रकार सुकुल को पत्नी के शीघ्र-मोक्ष का 'शार्टकट' सुझाया।

सुकुल ने भी सिर हिलाया—"हाँ, है तो। मगर रुपयों का बन्दोबस्त कहाँ से हो?"

गोविन्द बाबू अब सँभलकर बैठ गये और बोले—"बस इतनी-सी बात के लिये जी छोटा करते हो। आखिर हम लोग किस दिन के लिए हैं। जाने कब से हमारे पुरखे साथ-साथ रहते आये हैं। हमारे-तुम्हारे घर जुड़े हुए हैं। क्या मैं तुम्हारे इस काम में भी न खड़ा होऊँगा? सत्तर-अस्सी जितने चाहो, ले लो। किसी लिखा-पढ़ी की जरूरत नहीं। बल्कि अपने घर की चाभी मुझे दिये जाना, जो कुछ अपने से बन पड़े, उसके लिए इनकार थोड़े है। बरसात बीतने पर मैं मरम्मत भी करा दूँगा। वह जो पंडिताइन के कमरे वाली छत है न, वह मेरे भंडार की छत से मिली है। कच्ची तो दोनों हैं ही। कहीं जो एक टूटी, तो समझो कि दूसरी भी गई। इसलिए मरम्मत तो होती ही रहनी चाहिए। मगर तुम चिन्ता मत करो। मरम्मत तो मैं करवा ही डालूँगा।"

सुकुल 'हूँ-हूँ' कर रहे थे। गोविन्द बाबू कहते जा रहे थे—"न होगा, अपनी गायें वगैरा इसी में बँधवा दिया करूँगा, इसी बहाने घर में बढ़नी तो पड़ जाया करेगी......"

सुकुल की आँखें गोविन्द बाबू के चेहरे पर जमती जा रही थीं, गोविन्द

बाबू को जैसे ही इसका एहसास हुआ, सिटपिटा गये, बोले—"मेरा मतलब और कुछ नहीं, एक बात कहता हूँ......"

सुकुल ताड़ गये। तकली एक ओर रखकर बोले—"मगर करजा लेकर गया करने जाना ठीक नहीं। जो सच पूछो तो गया-सराध सब मन समझाने की चीजें हैं, इनके लिए मन में स्रिद्धा और गाँठ में दाम, दोनों होना चाहिए। या तो करो मत, मगर न: अगर करो तो अपने पैसे से करो। परलोक का करजा उतारूँ और इहलोक का चढ़ाऊँ? इस उलट-फेर में कौन पड़े। आज तक मैंने कभी किसी से कर्जा नहीं लिया, इससे तो बचना ही चाहिए। शास्त्रों में लिखा है कि 'पथ समान औषध नहीं, रिन समान नहिं रोग' रिन कहते हैं करजा को।"

गोविन्द बाबू हुँकारी भरकर दूसरी ओर देखने लगे। सुकुल कहते गये—"रिन से तो राम बचाये।" और चुप होकर बैठ गये।

गोविन्द बाबू जान गये कि दाँव खाली गया, फिर भी बोले—"जैसी तुम्हारी मरजी, मैं तो रिन समझकर नहीं दे रहा था। मेरे-तुम्हारे बीच कैसी साहूकारी, मैंने तो जरूरत समझकर कहा था।"

सुकुल का तीर निशाने पर लगा था। उन्होंने एक और चुटकी ली—"इसी दया-मया के मारे तो यहाँ से जाने को जी नहीं होता, नहीं तो इस घर से अब कौन लगाव रहा, जो चिपटा पड़ा रहता।" और ऊपर उछालकर तकली हाथ में ले ली।

गोविन्द बाबू को अब कोई रास्ता न सूझा—"अरे, बड़ों-बूढ़ों के नाम पर तो मुहल्ले में अब आप ही हैं। पंडिताइन के उठ जाने से तो जैसे मेरे घर का सारा रंग-ढंग ही चला गया। मेरे घर में तो बिना उनकी राय लिये एक कदम भी नहीं चलती थीं। अभी कल ही कह रही थीं कि सुकुलाइन चाची के उठते ही जैसे सारा-का-सारा गिरिस्ती का कारोबार मेरे काँधों पर टूट पड़ा हो......"

सुकुल के लिए इतना बहुत था। तकली एक ओर रखकर 'ठीक ही कहते हो' की मुद्रा बनाकर गोविन्द बाबू की तरफ़ देखते रहे। गोविन्द बाबू

कहते जा रहे थे—"अभी कल मनैया को जूड़ी आई, तो उनके हाथ-पाँव फूल गय, कहने लगीं, सुकुलाइन चाची को बुलाओ, सुकुलाइन चाची को बुलाओ, नहीं तो लड़का हाथ से जाने वाला है।"

सुकुल बोल पड़े—"क्या मनैया को जूड़ी आई है ? तुमने मुझे अब तक बताया क्यों नहीं ? वही तो मैं सोचता था कि दिखाई क्यों नहीं दिया. . ."

गोविन्द बाबू के बोलने का क्रम न टूटा—"किसी ने कहा, अरे, सुकुलाइन क्या अब सरग से आएँगी। इस पर मैंने तो यही कहा कि ऐसा न कहो, अब तो वह देवी, भगउती हैं, वई तो रच्छा करेंगी। सचमुच बड़ा तेज था उनमें।" कहते-कहते गोविन्द बाबू का मत्था झुक गया।

मगर सुकुल में क्या कुछ कम तेज था ? एक हिसाब से कुछ ज्यादा ही था। और वह अब तक प्रकट हो जाने के लिए व्याकुल हो उठा था। गंभीर मुँह बनाकर बोले—"सब कुछ नारायन की कृपा से ठीक हो जायगा। पहले क्यों नहीं बताया ? आज लड़के खेलने नहीं आये, नहीं तो सबेरे ही बताते तो मैं कोई परबन्ध करता। सबेरे से ही दुर्दिन लगा है। दैव राजा को भी क्या सूझी है, दिन भर मिस-मिस-मिस-मिस लगाये रहते हैं। अरे या तो बरसैं मत, मगर न:, अगर बरसैं तो जी खोलके बरसैं।" और सुकुल की आँखों में पचपन कजली सावन नाच गये।

सुकुल ने फिर कहा—"इस जून तो कुछ साफ हुआ है, लेकिन लड़के अभी तक नहीं आये, कहाँ गये सब-के-सब ?"

गोविन्द बाबू में इतनी मस्ती बरतने की ताब कहाँ, अनमने हो चले थे। रूखेपन के साथ बोले—"खेलते होंगे कहीं।"

सुकुल ने कहा—"और कहाँ खेलेंगे ? यहीं तो खेलते हैं रोज।" सामने की गली के छोर पर एक लड़का दिखाई दिया तो सुकुल ने पुकार कर कहा—"कहो लल्लू खाँ, और सब कहाँ गये ?"

लल्लू बिगड़कर बोला—"फिर 'खाँ' कहोगे, तो खाँसी आयेगी।"

सुकुल ने खाँसकर कहा—"अरे लो, मैं खुद ही खाँसे लेता हूँ, अब कहो लल्लू खाँ ?"

लल्लू तिनग उठा—"अच्छी बात है, अब मँगाना बजार से रुई तब देखूँगा, मेरा सिगट्टा लाएगा रुई।"

सुकुल ने कहा—"अरे न-न, च्-च्-च्, रिसाओ मत, अच्छा पंडित लल्लू लाल तिवारी, यह बताओ कि और सब कहाँ गये?"

लल्लू खुश होकर बोला—"तुम्हें मालूम ही नहीं! नाले के उस पार एक चिड़ीमार आया था। कई बटेरें मारीं, गलारें फँसाईं और दसरथ का कबूतर चुगते देखा, तो उसे भी धर लिया।"

सुकुल को ताज्जुब हुआ—"दसरथ का कबूतर पकड़ लिया?" लल्लू कहता गया—"हाँ-हाँ, फुल्लन ने देख लिया, तो शोर मचाया। सभी पहुँच गये। तब तक चिड़ीमार ने कबूतर को मिरोरकर एक झाड़ी में फेंक दिया। हम लोग उसे मारने दौड़े, तो उसने गुलेल चलाई, फुल्लन के पखौरे में लगी..."

"—पखौरे में लगी! गुलेल मारी! चिड़ीमार ने!"—सुकुल और गोविन्द बाबू ने एक साथ ताज्जुब में आकर कहा।

गोविन्द बाबू ने गुस्से के साथ कहा—"मारा क्यों नहीं साले को?"

लल्लू कहता गया—"अरे, हम लोग तो चटनी बना देते बच्चू की! लेकिन बुलाकी मियाँ बीच में आ गये और डाँट-डपट कर चुप कर दिया। बड़े चले हैं वहाँ से! चराने को बकरी, बनते हैं बड़े मियाँ! चिड़ीमार को साथ लेते गये हैं, मुफ्त में बटेरें और गलारें वसूल करेंगे। दसरथ तो कहता था, मियाँ की दो-एक बकरी न हलाल कर दी तो नाम नहीं......"

लड़कों के आने का शोर सुनाई पड़ने लगा था। सुकुल कहते जा रहे थे—"ठीक कहता है दसरथ। मियाँ की खबर जरूर लेनी चाहिए। दो-एक बकरी हलाल कर डालो, चार-छः कानी हौद भेज दो, बस दिमाग ठिकाने आ जाय।"

लल्लू ने कहा—"अब देखो, क्या-क्या होता है......"

गोविन्द बाबू ने कहना शुरू किया—"मगर बकरियों को मारने से क्या फायदा है, उन बेचारियों का कौन कुसूर है..."

मगर उनकी आवाज़ कोई शायद ही सुन पाया हो। आने वाले लड़कों

का शोर बढ़ गया था। दसरथ आगे-आगे था। पाँड़े, छोटे, भुल्लू और माता, सभी साथ थे। दसरथ का नुकसान हुआ था। कबूतर मारा गया था, इसीलिए माता ने आज की लीडरी उसी को दे दी थी।

दसरथ ने अधीर होकर दूर ही से कहा—"फिर न कहना, सुकुल चाचा। टें न बुलवा दूँ बुलाकी मियाँ को, तो नाम नहीं। डांटने चले हैं, बड़े कहीं के नवाब हैं!"

सुकुल ने छूटते ही कहा—"जरूर खबर लेनी चाहिए ऐसों की! मगर फुल्लन कहाँ गया?"

पाँड़े ने कहा—"मेरे यहाँ चौपाल में हल्दी-चूना लगाये पड़ा है। डरता है कि घर जायगा तो मार पड़ेगी।"

सुकुल ने कहा—"मार तो पड़ेगी तब पड़ेगी। उस चिड़ीमार के बच्चे को क्यों जाने दिया?"

पाँड़े ने आगे बढ़कर कहा—"मैंने तो आगे बढ़कर कन्धा पकड़ लिया। दसरथ ने दो-एक तमाचे भी जड़े, लेकिन बुलाकी मियाँ के आते ही माता की हिम्मत छूट गई, मेहरा कहीं का!"

सुकुल ने कहा—"जाओ माता, नाम डुबो दिया तुमने। बुलाकी मियाँ कहाँ के तोप हैं कि तुम्हारे साथी-संघाती को कोई मारकर साफ़ निकल जाय। देखो, एक तो किसी को मारो मत, मगर नः अगर मारो तो ऐसा मारो कि जिन्दगी भर याद रखे, हाँ!"

पाँड़े कूदकर आगे आ गया। तर्जनी से इशारा करता हुआ बोला—"ए, देखो, अभी वह कहीं गया थोड़े होगा। बुलाकी मियाँ के यहाँ से निकलेगा, तो नाले पर ही से तो जाएगा चलते हो......"

दसरथ ने नये जोश से कहा—"चलो!"

माता सिर झुकाये पीछे-पीछे चला, तो किसी ने कहा—"माता! मेहरपन दिखाना हो तो मत चलो!"

माता ने डपटकर कहा—"बस, बस! बहुत टिपिर-टिपिर मत करो।" और जरा अकड़कर चलने लगा।

सुकुल ने हिम्मत बढ़ाते हुए कहा—"जाओ!"

गोविन्द बाबू ने कुछ कहने के लिए साँस भरी, मगर मौका-महल देखकर चुप ही रह गये।

शोर सुनकर सामने के घर से मिसराइन निकल आईं। बोलीं—"क्या है सुकुल! लड़के शोर क्यों मचा रहे हैं?"

गोविन्द बाबू ने फिर बोलना चाहा, मगर सुकुल बोल पड़े—"लड़के हैं। मगर तुम यह भीगी धोती क्यों पहिने हो?"

मिसराइन ने कहा—"आज दिन भर बुँदियाता रहा, माने, इसीलिए धोती सूख नहीं पाई......"

गोविन्द बाबू अबकी बार अवश्य बोले—"जानती हो, निमोनिया हो जायगा, नहीं तो जूड़ी तो जरूर ही आने लगेगी। आजकल घर-घर यही हाल है।"

मिसराइन ने कहा—"जूड़ी-निमोनिया की, माने, फुरसत किसे है? चलूँ साँझ की जून हुई, रोटी करने जाना है। सुकुल आज क्या बनाओगे?"

सुकुल ने कहा—"आज तो सत्तू खाऊँगा, सारी लकड़ियाँ भीग गई हैं, कौन फूँकते-फूँकते जान दे।"

मिसराइन ने कहा—"तुम भी तो हठी हो, माने, जो हुआ सो हुआ। घर में क्यों ताला मारे हो। लकड़ियाँ खुले में पड़ी रहती हैं; तो कुवार में ही सूखेंगी। तब तक, माने, सतुवों पर ही रहोगे क्या?"

गोविन्द बाबू के मुँह से निकल गया—"हाँ, और नहीं तो क्या?"

सुकुल ने कहा—"भौजी, तुम रहने का वादा करो तो घर खोलूँ। मगर सब कहेंगे कि सुकुल ने मिसराइन को रख लिया, क्यों न गोविन्द बाबू?"

गोविन्द बाबू भला क्या कहते?

मिसराइन ने भीगी धोती में छिपे हुए अपने तन को देखकर हँसते हुए ऐसे सिर ऊपर उठाया, मानो स्मृतियों के तमाम सूत्र हल्के से समेट लिये हों। बोलीं—"हाँ-हाँ, तो क्या हुआ, देवर के घर बैठ जाने में क्या हरज है?

क्यों, गोविन्द बाबू ? अच्छा सुकुल तुम अपनी जिनिस मुझे दे दिया करो। जहाँ अपने लिये ठोंकती हूँ, माने, तुम्हारे लिए भी पो दिया करूँगी।"

सुकुल ने कहा—"इतना करो, तो तार दो, भौजी !"

मिसराइन ने कहा—"अरे, कौन बड़ी बात है, अच्छा, चलूँ। साँझ हो गई, रोटी करने जाना है।" और दरवाज़े के अन्दर चली गई।

गोविन्द बाबू घुटनों पर सिर रखे कुछ सोचने लगे थे। सुकुल ने जमुहाई लेकर कहा—"राम-राघव, राम-राघव, राम-राघव पाहिमाम् !" और एक डकार लेकर कहा—"ओम !"

गोविन्द बाबू सोचते-सोचते बड़बड़ा उठे—"मगर लड़कों को हुसकाकर सुकुल तुमने अच्छा नहीं किया।"

सुकुल ने लापरवाही से कहा—"अरे लड़के हैं, खेलते-कूदते हैं।"

गोविन्द बाबू ने कहा—"ऐसी बात नहीं है, लड़के हैं, इसी से तो कहता हूँ कि न जाने क्या कर बैठें।"

सुकुल ने कहा—"तुम चाहे जो कुछ कहो, लेकिन यह मैं कहे देता हूँ कि लड़के खुस तभी रहते हैं, जब उनसे उनके ही मन की बात कहो। या तो लड़कों से बात मत करो, मगर नः अगर करो तो उन्हीं की ऐसी ! खीः-खीः-खीः !"

गोविन्द बाबू की गंभीरता का कोई भी अनुमान सुकुल नहीं कर रहे थे। इसीलिए वे चिढ़कर बोले—"तुम्हें हँसी सूझती है, यह नहीं जानते कि कानी हौद के पिछले नीलाम में चार बकरियाँ मैंने भी ली थीं, वे बुलाकी के पास रहती हैं, कहीं उन्हीं को इन सबों ने मार डाला, तब ? मैं तो ठीक से पहचानता भी नहीं, बकरियों में कैसी पहचान ? किसी को मारें, बुलाकी कहेगा, मेरी ही मारी गई तब ?"

सुकुल के 'मूड' में कोई फ़र्क़ नहीं आया। बोले—"अच्छा, तो यह कहो, यह बात है ! खैर, लड़के मेरे रोके तो रुकने के नहीं, तुमसे बने, तो रोक लो।"

गोविन्द बाबू ने जलकर कहा—"बने तो रोक लूँ ? रोज़ दरवाजे

बुलाकर खेलाते हो तुम और रोक लूँ मैं ? मेरी सुनेंगे ?" इतना कहते हुए उठकर खड़े हो गये।

सुकुल ने कहा—"क्या चल दिये ?"

गोविन्द बाबू ने कहा—"हाँ, गाय हार से लौट आई, सुनो बम्बाऽऽ रही है, बाँध दूँ जाकर।"—और चल दिये।

सुकुल ने ठंडी साँस लेकर अपने दरवाज़े के ताले की ओर देखा और रस्सी-बाल्टी उठाकर कुएँ की ओर चल दिये गुनगुनाते हुए—'बिना राम रघुनाथ जगत में कोई नहीं अपना-आ-आ-आ. . . .'

दूसरे दिन।

सुकुल ने खूँटी पर टँगे कुर्ते की जेब से तमाखू निकालकर उसमें चूना मिलाकर हथेली पर रगड़ा और दो बार फटककर 'बम शंकर' कहते हुए उसे मुँह में रख लिया। थूकने को हुए कि देखा, सामने फुल्लन आ रहा था। जल्दी से एक ओर थूककर इशारे से उसे बुलाया। पूछा—"कहाँ लगी थी चोट ?"

फुल्लन ने कहा—"पखौरे में।" और कमीज उठाकर पखौरा खोलकर दिखाने लगा, जो अभी तक हल्दी-चूने के रंग के कारण काफ़ी लाल था।

"हरामजादा चिड़ीमार का बच्चा ! फ़ौरन कचूमर निकालना था उसका।"

"तुम्हें कुछ मालूम नहीं ?"

"हुआ क्या ?"

"कल मैं तो हल्दी-चूना लगाये पाँड़े की चौपाल में पड़ा था, लेकिन सब-के-सब नाले पर गये थे, चिड़ीमार को पकड़ने।"

"हाँ-हाँ, गये तो थे। यहाँ से होकर तो गये थे। लेकिन चिड़ीमार तो उन्हें मिला ही नहीं, पहले ही निकल गया था। यह तो मुझे पहले ही मालूम हो चुका है।"

"और इसके बाद क्या हुआ, यह नहीं मालूम ?"

Proletariat

"नहीं तो।"

"सब पर मार पड़ी है।"

"मार पड़ी है!"

"हाँ। दसरथ के दादा ने तो दसरथ को इतना मारा, इतना मारा कि पीठ पर बरेंरे पड़ गये। कहा कि अब चोरी-डकैती की सूझी है, घर से बाहर पाँव निकाला, तो पाँव तोड़ दूँगा। दरबा खोलकर सारे कबूतर उड़ा दिये। इसी से अभी तक घर से नहीं निकला। अब उसके दादा बजार गये होंगे, चाहे आता हो।"

सुकुल ने सोचते हुए कहा—"हूँ! और भी कोई पीटा गया?"

"हाँ-हाँ, छोटे के भाई साहब ने बेंतों से खबर ली, पाँड़े के काका तो तामील पर गये हुए हैं, वह भी डर रहा है कि लौटने पर अच्छी तरह खबर लेंगे। भुल्हू...लो, दसरथ आ भी गया।"

दसरथ कुछ-कुछ लँगड़ाता हुआ आया। माता भी आया। छोटे, पाँड़े और लल्लू भी आये....

दसरथ ने आगे बढ़कर सुकुल को कोसा—"तुम्हारे मारे मार पड़ी है।"

सुकुल ने बात काटी—"मेरे मारे क्यों पड़ी है? उधम मचाते हो, तो मार नहीं पड़ेगी, तो क्या लड्डू मिलेंगे? कितनी मार पड़ी, जरा देखूँ?"

दसरथ को कुछ व्यंग्य जान पड़ा, तो उबल पड़ा—"देखोगे क्या, जाओ-जाओ, पहले गड़हिया में अपना मुँह धो आओ। घोड़ा-जैसा मुँह, मेंढ़क-जैसी नाक..."

सब हीः-हीः करके हँसने लगे।

सुकुल लाल होकर गरजे—"भागो यहाँ से, जाओ, दुष्टो!"

पीछे से किसी ने कहा—"आक्-छीं!"

सुकुल ने जो घूरकर सब की ओर देखा, तो कुछ लोग माता की ओर देखकर हँस रहे थे। पाँड़े 'आक्-छीं, आक्-छीं' करता हुआ कूद रहा था। लल्लू धोती के किनारे की बत्ती बनाकर नाक में डालकर सचमुच ही छींक देने की कोशिश कर रहा था।

सुकुल ने कहा—"जाओ! अब से यहाँ कभी नहीं खेलने दूँगा।"

माता ने बढ़कर कहा—"खेलने क्यों न दोगे? गली सरकार की है, क्या तुम्हारे नाम पट्टा लिखा है?"

सुकुल ने एक मिनट के लिए सिर झुका लिया। माता कहता गया—"या तो खेलेंगे नहीं, मगर न: अगर खेलेंगे, तो यहीं खेलेंगे!"

सुकुल ने सिर उठाया।

गोविन्द बाबू न जाने कब आकर लड़कों के पीछे खड़े हो गये थे। माता उनकी ओर देखकर मंद-मंद मुस्करा रहा था और वे हँसी को रोकने और सुकुल की नज़रों से बचने की कोशिश कर रहे थे। लड़के नारा लगाये जा रहे थे—'या तो खेलो मत, मगर न:, अगर खेलो, तो यहीं खेलो!' और बीच-बीच में घूँसा तानते थे। बड़ा मज़ा आ रहा था।

सुकुल भौंचक्के-से देखने लगे कि आज अचानक यह विद्रोह क्यों? चुप रहना ही ठीक समझा। लड़कों की हँसी आखिर कितनी देर तक चलती। थोड़ी देर हँसकर लगभग चुप हो गये, तो भुल्लू ने एक दूसरा शिगूफ़ा छोड़ा—

'दुबे दुबकरी, तिबे नवाब
तिवारी हरजोतना, सुकुल चमार'

सुकुल ने परवाह न की। लड़कों की ओर पीठ फेर ली। लेकिन लल्लू बिगड़ पड़ा—"और तुम काछी की जात, कौन बड़े सरीफ हो, जो दूसरों को हरजोतना बनाते हो। जाओ, जाओ अपनी ककड़ी रखाओ जाकर।" गोया तिवारी का हरजोतना होना तो स्वयं-सिद्ध था, क्योंकि वह तुकबंदी में बँधा हुआ था, लेकिन एक काछी का बच्चा उसे उद्धृत करे, यह अनुचित था।

भुल्लू बुरी तरह सिटपिटा गया। मगर फिर भी बोला—"कहता तो हूँ, जो चाहो कर लो। बाप तो चुंगी की मुंसीगिरी करते हैं, चले हैं सरीफ बनने!"

"और तुम्हारे बाप तो तरकारी बेचते हैं।"

"तुम्हारे बाप दान लेते हैं, भिखमंगे हैं।"

"तुम्हारा झोंपड़ा टूटा हुआ है, तन पर साबित कपड़े तक तो हैं नहीं।"

"तुम्हारी अम्मा खलिहान से रात में अनाज चुराती है, मैंने अपनी आँखों से देखा है।"

"पुछवाओगे किसी से? और अपनी नहीं कहते, तुम्हारी अम्मा तो घास छीलती है, घसियारिन है।"

"लल्लू-कल्लू !"

"भुल्हू-टुल्हू ।"

कुछ लड़के लल्लू की ओर से हँस रहे थे, तो कुछ भुल्हू की ओर से। गोविन्द बाबू पसोपेश में पड़े हुए पीछे खड़े रहे, सुकुल पीठ फेरकर तमाशा देखने लगे। इतने में ही शामत की मारी मिसराइन कुंडी खोलकर बाहर निकलीं—"भागो यहाँ से, झाँय-झाँय उठी है। दहिजार हल्ला मचाये हैं!"

सबका ध्यान उसी तरफ खिंच गया। लल्लू की बोलने की बारी थी, इसलिए सबसे ज्यादा बुरा उसी को लगा। डपटकर बोला—"चुप, बुढ़िया!"

इतना कहना था कि मिसराइन के मुँह से गालियों की वर्षा होने लगी—"कल के छोकड़े अभी दूध के दाँत नहीं टूटे अबे-तबे बकने लगे! माने अभी कोई फूल की छड़ी भी छुआ दे तो लोग कहें कि लड़का-सयानी करती हैं।"

लल्लू का ताव कम नहीं पड़ा। बोला—"मारो अच्छा, देखूँ तो जरा, हैं मुँह में दाँत?"

मिसराइन को इतनी ताब कहाँ—"जबान बहुत चलती है कतरनी ऐसी नासपीटे की! बस, चले ही जाओ यहाँ से, नहीं तो जौन सराप मुँह से निक-लेगा....कुलच्छने..."

माता सब से ज्यादा घुटा हुआ था। जोर से चिल्ला पड़ा—"ओ-हो! सुकुल की शह पाकर बूढ़ा अब बहुत चहकने लगी है। भाई, क्या बात है! मगर यह तो बताओ, भाई, कि तिवारी हरजोतना, सुकुल चमार, तो सुकु-लाइन क्या हुईं?"

लड़के इशारा समझकर ज़ोर से हँसने लगे। मिसराइन और तेज़ी से गालियाँ देने लगीं। सुकुल अब भी चुप रहे, तो गोविन्द बाबू से न रहा गया, चिल्लाकर बोले—"बस, बहुत हो चुका, चुप हो जाओ! देखो माता, चुप कराओ सब को। बस महराजिन, हो गया, तुम बड़ी-बूढ़ी ठहरीं, कहीं तुम्हारा सराप लग ही गया, तो? साँझ की जून भाख-कुभाख मुँह से न निकालना चाहिए।"

सुकुल की चुप्पी में कोई फ़र्क़ नहीं आया था। गोविन्द बाबू उनकी ओर मुख़ातिब होकर बोले—"ख़याल न कीजिएगा शुकुल जी इन सब की बातों का, लड़के ही तो हैं।"

क्षमा-प्रार्थना का टोन, उसमें मिला हुआ व्यंग्य और उन सबके पीछे शैतान की खोपड़ी! सुकुल सब-कुछ समझे, लेकिन बोले कुछ नहीं। सिर झुकाकर कुछ 'हाँ-हूँ' कह दिया, जो कि साफ़ सुनाई भी नहीं पड़ा।

गोविन्द बाबू का हस्तक्षेप वास्तव में बहुत प्रभावशाली साबित हुआ। मिसराइन की गालियाँ धीरे-धीरे रुक रही थीं। लड़के जैसे फिर से शोर मचाने के इन्तज़ार में बिल्कुल चुप हो गये थे। गोविन्द बाबू ने कहा—"जाओ, तुम लोग और कहीं खेलो जाकर।"

शायद पहली बार लड़कों ने गोविन्द बाबू का कहना माना। एक-एक करके सब चले गये। सुकुल चुप-के-चुप। माता अभी तक न गया था। गोविन्द बाबू ने कहा—"तुम भी जाओ माता, खड़े क्यों हो?"

माता ने कहा—"जाऊँ?"

गोविन्द बाबू ने जल्दी से कहा—"हाँ-हाँ, और किस तरह कहूँ, जाओ, खेलो जाकर" और सुकुल के चबूतरे पर आकर यह कहते हुए मचिया खींचकर बैठ गये कि—"बात यह है शुकुल जी कि....

दहलीज की एक ओर चूल्हा रखकर मिसराइन ने चौका बना लिया था। दाल-भात बनाकर चली जाती थीं। रोटी करके लौटती थीं, तब नहा-धोकर

रसोई में जाती थीं और रोटी सेंकती जाती थीं सुकुल खाते जाते थे, ख़ुद बाद में खाती थीं। यही ढर्रा चल निकला था।

उस दिन पानी नहीं बरसा था, आसमान साफ़ हो गया था। तेज़ धूप पड़ रही थी। सड़ी गरमी। अँधौरियों की किलकिलाहट और पसीने से नहाई हुई मिसराइन रोटी करके लौटीं, तब तक काफ़ी देर हो चुकी थी। सुकुल सबेरे के वक़्त नाश्ते के नाम पर सिर्फ़ दातून करते थे, नीम की। और कोई काम तो रहता नहीं था, इसलिए लाख न चाहने पर भी दिन चढ़ते-चढ़ते बड़े ज़ोर की भूख लग आती थी। उस दिन देर हुई थी, इसलिए और ज़्यादा भूख लग आयी थी। फिर भी बहुत दीन-हीन स्वर में बोले—"आज तो देर हो गई, भौजी।"

मिसराइन बौखला उठीं। मगर सारी खीझ चेहरे पर आकर ठहर गई। 'हूँ' कहती हुई घर का ताला खोलने लगीं।

सुकुल ने ख़ुश करना चाहा—"पानी भर लाऊँ, नहाओगी ?"

मिसराइन ने घर के अंदर घुसते हुए कहा—"कोई ज़रूरत नहीं, कुएँ की जगत पर ही नहा लूँगी।"

अब सुकुल क्या करते। ख़ुद तो पहले ही नहा चुके थे। कोई काम ही नहीं था करने को। दो-चार बार राम का नाम लिया, तो एक काम सूझा। बिस्तर एक ओर समेटकर चारपाई की अरदावन कसने लगे। मिसराइन गगरा-रस्सी लेकर कुएँ पर गईं। अरदावन कस चुके, तब तक मिसराइन लौटीं। अब सुकुल लोटा-डोर लेकर कुएँ की ओर चले, हाथ-मुँह धोने के लिए। काफी मल-मलकर हाथ धोये। नहाने की वजह से पैरों में जो मैल फूल आया था, उसे भी धोया। फिर एक लोटा पानी से मुंह धोया, कुछ पिया भी। पेट में गोली-सी लगी। हाथ फेरकर उसका उपचार किया और लोटा-भर स्वच्छ जल लेकर मिसराइन की चौखट पर पहुँच गये। पुकारा—"भौजी ! आऊँ ?" और अन्दर घुसते हुए चले गये।

मगर हाय रे दुर्भाग्य ! जल्दी हो ही गई। मिसराइन ने गरजकर

कहा—"मैं क्या तुम्हारी लौंडी-बांदी हूँ ! आऊँ, आऊँ लगाये रहते हो ! जरी-मरी वहाँ से आऊँ, तो यहाँ तुम्हारी धौंस सहूँ ! बाबा, यह मेरे बूते का नहीं. . . ."

मूँह खुला था, तो जैसे रुकने का नाम ही नहीं लेता था। सुकुल हक्के-बक्के खड़े थे। मिसराइन बकती ही जा रही थी, जैसे साम्प्रदायिक दलों के आन्दोलनी नेता अपने रटे हुए भाषणों में दनादन ग़लत-सलत आँकड़े बोलते चले जाते हैं।

"मैंने तो सोचा, मनई की जात, खाने-पीने की तकलीफ़ होगी, जो अपने से बने कर दिया करूँ। तो अब छाती पर सवार। भौजी ! भौजी ! भौजी ! भौजी गई चूल्हे-भाड़ में ! और देवर को क्या कहूँ. . . ."

न जाने कितनी निराशा के बोझ से दबे हुए पाँवों को सुकुल ने दरवाजे की ओर फेरा कि दूसरी गरज सुनाई पड़ी—"चले जा रहे हो, तो यह जो थोपकर रखा है, सो कौन खायगा ?"

असमंजस हुआ। दलील को आंतरिक समर्थन मिला। लौट पड़े। पीढ़ा डालकर जहाँ रोज़ बैठते थे, वहीं बैठ गये। मिसराइन ने फिर हस्तक्षेप किया—"यह अलँग।"

सुकुल ने यंत्रवत आज्ञापालन किया। जगह बदलकर बैठ गये। मिसराइन ने रोटियाँ सेंकनी शुरू कर दीं। गरम-गरम फुलके थाली पर पड़े, जैसे रोते हुए बालक की पीठ पर मनुहार की थपकियाँ। सुकुल का क्षोभ विलीन हो गया। बड़ी ममता के साथ बोल उठे—"भौजी ! आज तो तुमको बहुत ही भूख लग आयी होगी ?"

मिसराइन ने जान-बूझकर अपने को व्यस्त कर दिया। रोटी फटककर थाली में डाली, चावल के ढक्कन की तश्तरी उठाई और फिर से रख दी। दाल में एक बार चिमचा डालकर हिलाया और लोई काटकर दूसरी रोटी बेलने लगीं। लेकिन फ़ुर्ती ने साफ़ बता दिया कि कुछ पिघली ज़रूर थीं।

थोड़ी देर बाद मिसराइन की भुनभुनाहट सुनायी पड़ी—"हरामजादे, दहिजार के नाती, नासकाटे. . . .

सुकुल ने बात काटकर कहा—"क्या बात है, भौजी, किसी ने कुछ कह दिया क्या ?"

मिसराइन अबकी बार बोलीं—"लौंडे हैं, बहेंतू कहीं के ! रोज उखमज लगाये रहते हैं। चार-पाँच दिन से जी पक गया है। रस्ता चलते लिहेंड़ी लेते हैं, न जाने क्या हो गया है इन्हें !"

सुकुल ने कहा—"सब समझता हूँ। गोविन्द लाला का मलाल है, इस तरह निकल रहा है। जिस दिन उस बहेलिया को मारने लड़के गये थे, उसी दिन शाम को घर-घर जाकर लड़कों की सिकायत करके पिटवाया, फिर माता को मेरे ख़िलाफ़ हुसकाया। सब जानता हूँ। पाँड़े को अलग बुलाकर मैंने सब-कुछ मालूम कर लिया था। मुझे दोनों पहर रोटी मिली जाती है तो वह भी उनसे नहीं देखा जाता। न जाने मैंने कौन इनका घोड़ा बांध लिया है। मैं तो, भौजी, सच कहता हूँ, इसी बात पर अन्न-जल त्याग दूँ, लेकिन लाला बाल-बच्चों वाले आदमी ठहरे भूखे पेट, का सराप लगेगा तो भसम हो जाएँगे। इसलिए जैसे-तैसे पेट भरकर पड़ा रहता हूँ।"

मिसराइन का पारा फिर चढ़ा—"यह कहो, बैठे-बैठाये पोई हुई दोनों जून मिल जाती है, झंझट कौन करे। उपास ? तुम्हारे बूते का है ? जब तक भर पेट खाना मिलता है, उपास कोई नहीं करता, हूँ ! और गोविन्द लाला ! उनको तो मैं अकेले दम देख लूँगी। सताई आत्मा का सराप खाली नहीं जायेगा। बंस नास हो जायगा। सूने घर में अकेले बैठ के आठ-आठ आँसू न रोवें, तो बाम्हन नहीं, चमार से पैदा हूँ ! . . . . रोटी और लोगे ?"

सुकुल ने हाथ उठाकर रोक दिया। लोटा उठाकर पानी पिया और एक डकार लेकर बोले—"तुम चाहे जो करो, मैं तो बाल-बच्चों वाले आदमी के ऊपर कोई अनुष्ठान नहीं कर सकता।"

मिसराइन कुढ़ गईं—"तो आज से ठोंकना-खाना ! मैं बदनामी उठाने के लिए नहीं हूँ, हाँ !"

सुकुल भारी मन लिये लोटे पर हाथ टेककर उठ खड़े हुए और बाहर

की ओर चले आये। मिसराइन बड़बड़ा रही थीं—"वड़े गंत-मंत के बने हैं..."

सुकुल ने लोटा धोकर अपनी चौपाल में रखा। तकली उठाई और एक ओर चल दिये।

चौराहे पर गोविन्द बाबू मिले। बौखलाये हुए थे। मिलते ही बिना किसी लाग-लपटाव के बोल उठे—"देखो, सुकुल ! तुम मना क्यों नहीं करते इन लड़कों को ?"

सुकुल कुछ समझे नहीं, बोले—"बात क्या है ?"

"पाजी हैं, पाजी ! वही जो दसरथा है, वही है इन सब का सरदार। अच्छी बात है। एक-एक की खबर लूँगा।"

"कुछ कहोगे भी ?"

"कहूँ क्या ? जैसे तुम्हें कुछ मालूम ही नहीं। आज दो बकरियाँ पकड़कर कांजी हौद में दे आये हैं। बुलाकी मियाँ कहते हैं कि उनके पास पैसे नहीं हैं, मैं ही छुड़ाऊँ। अभी दर्ज न हुई होंगी, मुंसी चार-चार आने में मान जायगा। नहीं तो फिर ड्योढ़ी चपत बैठेगी। इन बदमाशों के मारे तो मुहल्ले में रहना मुश्किल है।"

सुकुल ने कहा—"आखिर तो लड़के ठहरे। मैं कर ही क्या सकता हूँ। फिर भी देखो। मेरी सुनें, चाहे न सुनें, एक बार कहकर तो देखूँगा ही।"

"हाँ, देखिये, आप जैसे भी बने, उन्हें समझा दीजिये, नहीं तो फिर मुझे भी नंगई पर उतरना पड़ेगा। आखिर कब तक कोई अपनी गाँठ से पैसा खर्च करेगा ? किधर जा रहे हैं आप"—गोविन्द बाबू पूछ बैठे।

सुकुल के मुँह से निकल गया—"भल्ला खटिक की तरफ़।"

"आँय ! क्या लकड़ी खरीदने ? खाना तो. . . ."

सुकुल सँभले। खटिकों के पास के मुहल्ले सुरजूपुर का नाम बताकर चलने को हुए।

गोविन्द बाबू ने कहा—"तब तो दसरथ का घर रस्ते में ही पड़ेगा। आप उसे चेता दीजिएगा।"

सुकुल ने कहा—"अपनी वाली तो मैं उठा नहीं रखूँगा, बाकी वे जानें, उनका काम जाने !"

गोविन्द बाबू 'जै रामजी की' करके चलते बने।

सुकुल आगे बढ़े। थोड़ा ही चले थे कि दसरथ भी मिल गया। गोविन्द बाबू और लड़कों के बीच की इस बात को सुनकर सुकुल का पुराना बिश्वास कुछ लौटने लगा था। कुछ अधिकार के साथ बोले—"क्यों दसरथ, यह सब क्या हो रहा है ?"

दसरथ ने बात का जवाब देना ज़रूरी नहीं समझा। सुकुल ने दूने दबाव के साथ सवाल दुहराया, तो दसरथ ने कहा—"क्या हुआ ? मुझे तो कुछ भी नहीं मालूम।"

सुकुल ने बात साफ़ की—"मुहल्ले में रहते हो कि नहीं ? जानते नहीं थे कि बकरियाँ लाला की हैं, क्यों कानी हौद में दे आये ?"

दसरथ ने कहा—"कौन कहता है, मैं दे आया ? दे भी आया, तो किसी का डर पड़ा है ? मेरे घर में घुसती थीं, मैं दे आया। जिसकी हों, छुड़ा लाये। तुम काजी हो कि दलाल, जो बीच में बोलने चले हो। पहले लड़ाई करने के लिए हुसकाते हो, फिर सिकायत करवा के पिटवाते हो। अबकी बार दादा से पूछकर ले गया हूँ, देखता हूँ, अब कौन मेरा क्या किये लेता है।"

दसरथ कड़ककर बोले जा रहा था। सब लड़के जमा होते जा रहे थे। माता को ये सीधे वार पसन्द नहीं थे। आँखें मटकाकर बोला—"आज 'सुकुलाइन' ने पनेथी खिलाई कि फुलके ?"

सुकुल को अपनी सुकुलाइन की याद आ गई। आज की झिड़की अभी मन पर ताज़ी ही थी। दोनों ओर घाव हरे थे, उन्हें कोई रास्ता न सूझा। पचास जूते पड़ने में काफ़ी देर लग सकती है, मगर एक लागुन बात के होने में कितनी देर ! अन्दरूनी चोट थी। दवा-दारू, तेल-मालिश के बस की नहीं। आगे नहीं गये। लौट पड़े। लड़के पीछे ताली बजाये जा रहे थे।

भल्ला खटिक के यहाँ लकड़ी लाने न जा सके थे, यों भी मन उदास था, सुकुल उस रात बिना खाये ही राम का भजन करते-करते सो गये। एक बार भूख के ख़िलाफ़ भी नींद आ सकती है, मगर अल्ला मियाँ की मरज़ी के ख़िलाफ़ भला क्या हो सकता है! भरी रात में नींद टूट गई। दिन भर की तपिश के बाद रात में तूफ़ानी बारिश हुई। किसी भयानक स्वप्न का प्रसंग उठाकर वह प्रचण्ड वर्षा-ध्वनि सुकुल के सुप्त मानस में प्रवेश कर गई होगी। शायद उसी की चरम स्थिति पर उनकी नींद खुली और उन्होंने चारों ओर देख-देखकर स्थिति का ज्ञान करने की कोशिश की। बिजली की चमक ने सब-कुछ साफ़-साफ़ दिखाया। राम का नाम लेकर करवट बदली, फिर बदली, फिर उठकर बैठ गये। आँखें मिसराइन के छपरे की ओर लगी हुई थीं। सुकुल का छपरा एक साल पुराना था, सो कोई डर नहीं था। लेकिन मिसराइन के छपरे की उम्र पाँच साल से क्या कम रही होगी। तूफ़ान जूँ-जूँ चल रहा था। कभी बिजली कड़ककर थमी-सी रह जाती थी। हवा पानी-भरे झकोरे लाती और तेज़ी से बौछारें मारती हुई निकल जाती। इतने में बड़े ज़ोर से बिजली कड़की। हवा का एक झोंका आया और 'अर्रर्-र् गड़म' की आवाज़ हुई। सुकुल पलक मारते ही समझ गये। चौपाल के कोने से एक छोटा-सा सोंटा उठाकर मिसराइन के घर की ओर चल दिये। आवाज़ छपरा गिरने की थी। अब तक 'अरे दौड़ो, अरे दौड़ो' की गुहार उठने लगी थी।

"क्या हुआ? क्या हुआ? चोट तो नहीं आई?"—कहते हुए सुकुल पहुँच गये। थूनी उखड़ गयी थी। छपरा झूलकर बिल्कुल दरवाज़े से सट गया था। थोड़ी-सी साँस बाकी थी, उसी राह से सुकुल ने अन्दर जाकर ज़ोर लगाकर छपरे को थोड़ा खिसकाया और अपने सोंटे पर टेक दिया। हवा के झोंकों के साथ छपरे का फूस उड़-उड़कर गली में गिर जाता था। टट्टर-ही-टट्टर रहा जा रहा था। मिसराइन दीवाल से चिपटी खड़ी थीं। उनके चीत्कारों ने सुकुल को उनके होने की सूचना दी। सुकुल ने पूछा—
"भौजी! चोट तो नहीं आयी?"

मिसराइन के भय के उद्गार थम ही नहीं रहे थे—"हाय भगवान् ! जान निकल गई ! हे ईसुरनाथ ! . . . ."

सुकुल ने फिर पूछा—"कहो, कहो, कहीं चोट लगी क्या ? अन्दर कोई चारपाई हो तो दरवाजा खोलो और अन्दर ही सो रहो। अब पहर भर रात से ज्यादा नहीं है।"

मिसराइन ने काँपते हुए कहा—"अन्दर है ही कितना। बस एक कोठरी और एक दहलीज, दोनों माड़ौ की तरह टपक रही हैं। अब तक तो वहाँ गंगा-जमुना बह चली होंगी। यह चारपाई तो छपरा में दब गई, दूसरी नहीं है।"

सुकुल दपसट से पड़ गये। बिना कुछ बोले सोंटा छपरा में लगा छोड़ चल दिये, धीरे-धीरे, लड़खड़ाते हुए। अँधेरे में कौन बता सकता है, उन दोनों की आँखों का क्या भाव रहा होगा।

आधी दूर जाकर सुकुल लौटे। मुँह फिराकर बोले—"भौजी ! न हो मेरी चौपाल में ही चली चलो।"

मिसराइन बिना कुछ कहे छपरा के बाहर निकल आयीं और पीछे-पीछे चलने लगीं। ऊपर भी पानी बरस रहा था अन्दर से भी पानी-पानी हुई जा रही थीं।

चौपाल में पहुँचकर सुकुल बोले—"मैं बिस्तर बिछाकर नीचे लेट रहता हूँ और तुम चारपाई पर लेट रहो।"

मिसराइन ने कहा—"नहीं, तुम लेटो। मैं यहीं कहीं झूरे में बैठी रहूँगी, छिन में तो सबेरा हो जायगा।"

सुकुल ने अधिक कुतर्क न किया। कहा—"अच्छा, यह कमली ले लो, चाहे ओढ़ लेना, चाहे जमीन पर ही बिछा लेना, मैली नहीं होगी।" और कमली उठाकर मिसराइन को दी और 'राम-राम' करते हुए चारपाई पर लेट रहे।

अँधेरे में आँखें मूँदना चाहते और जान पड़ता कि मूँद भी ली हैं, लेकिन बिजली चमकती, तो मालूम होता कि नहीं, खुली-की-खुली हैं, और

सामने मिसराइन के छपरे का टट्टर है। हवा का झोंका आता और छपरे का फूस उड़कर जमीन पर आ गिरता।

मिसराइन शिकायत-भरे स्वर में 'राम-राम' किये जा रही थीं। जिस ईश्वर का नाम उनके मुँह से निकलता था, वह भी काफ़ी सताया हुआ जान पड़ता था।

थोड़ी देर के मौन के बाद मिसराइन के मुँह से निकल गया—"सुकुल, सो गये ?"

सुकुल ने अचकचाकर कहा—"नहीं तो।"

मिसराइन ने क्षमा-याचना के स्वर में कहा—"आज तो भूखे ही होंगे।"

सुकुल ने विभोर होकर आश्वासन दिया—"नहीं तो, बिल्कुल नहीं, छोड़ो भी खाने-पीने की बातें, राम का नाम लेने की बिरिया हो रही है।"

घंटे भर बाद बारिश थमी। मिसराइन बैठे-ही-बैठे थोड़ा उठंग गयीं, आँख लग गयी। सुकुल को नींद नहीं आयी, तो कोशिश करना भी छोड़ दिया। बारिश थमने पर बादल थमे, तो मिसराइन के छपरे का टट्टर अँधेरे में भी दिखाई देने लगा। टट्टर, जो एक घर को छिपाये था; घर, जो हर जगह माड़ी की तरह टपक रहा था। सुकुल कभी-कभी आँखें फेरकर मिसराइन की ओर देखते, जो नींद में आकर लुढ़की पड़ी थीं।

यह सब देखने के लिए सबेरा बड़ी उत्सुकता के साथ चला आ रहा था।

रात के तूफ़ान में कितने ही छपरे उड़ गए थे। कितने ही पेड़ टूट गए थे। कितने ही घर गिर गए थे। बस्ती भर के लोग छपरा उठाने के लिए मददगार खोजने में या छत पर मिट्टी पिटवाने के लिए मजूर खोजने में फँसे हुए थे। लड़के सब जगह तमाशा देखते फिर रहे थे। गर्मी से नजात पाये हुए अधनंगे लड़के हलकी-हलकी सर्दी को खुशी की तरह अनुभव करते हुए टूटे मकानों पर फबतियाँ कसते घूम रहे थे। सुकुल के दरवाज़े आकर मिसराइन के छपरे की दीन-हीन दशा देखकर उन्हें हँसने का बड़ा मसाला मिला था, लेकिन गोविन्द बाबू के कोप के कारण

खुलकर हँसने की हिम्मत नहीं पड़ सकती थी। सब इशारे-इशारे हँस रहे थे।

गोविन्द बाबू भी इसी इंतज़ाम में घर के बाहर निकल आये थे। मिसराइन अधभीगी धोती में सिमटी हुई मुँह के ऊपर हथेली रखे बैठी थीं।

इतने में ही एक छोटी-सी पोटली बाँधे हाथ में लोटा डोर लिये सुकुल गली में आ गये। पुकार कर बोले—"अच्छा, गोविन्द बाबू जय हो!"

गोविन्द बाबू मुख़ातिब हुए—"कहाँ चल दिये सबेरे-सबेरे, सुकुल जी!"

सुकुल ने कहा—"अब चल दिये, गोविन्द बाबू। सोचा, पंडिताइन की गया कर ही डालूँ, जिन्दगी का कौन भरोसा। आगे जगदीश के दर्शन भी हो जाएँगे।"

गोविन्द बाबू ने ताज्जुब में भरकर कहा—"अरे, तो आज ही! अभी? कुछ रुपये-पैसे का बन्दोबस्त हो गया क्या?"

सुकुल ने लापरवाही से कहा—"रुपया-पैसा क्या होगा, जनेऊ बनाता, भजन करता, ठोंकता-खाता चला जाऊँगा। यों भी ब्राह्मण हूँ भूखों तो मरूँगा नहीं।"

गोविन्द बाबू ने पूछ ही लिया—"घर किसके मत्थे छोड़े जा रहे हो?"

सुकुल ने कहा—"भौजी को कुंजी दिये जा रहा हूँ, उन्हीं के मत्थे समझो।" और चारों ओर एक नज़र फेरी। लड़कों को देखा, जो सकते में आये-से चुप खड़े थे। उनकी समझ में ही नहीं आ रहा था कि यह सब क्या हो रहा है। घर की कुंडी से लटकता हुआ ताला देखा, जो अब खुल सकता था।

गोविन्द बाबू का कुतूहल दब न सका—"क्या कभी नहीं लौटोगे?"

सुकुल ने बहुत साधारण ढंग से कहा—"लौट भी सकता हूँ। लौटूँ, तो अपनी चौपाल में पड़ा रहने दोगे, गोविन्द बाबू?"

मिसराइन ने धोती का खूँट जिसमें शायद घर की कुंजी बँधी हुई थी, कसकर पकड़ लिया था। चुप थीं।

लड़के चुप थे।

गोविन्द बाबू ने ईर्ष्या के भाव को भरसक दबाते हुए कहा—"तो यह कहो कि घर मिसराइन को दिये जा रहे हो।"

सुकुल बस्ती से बाहर जाने वाले रास्ते पर चल दिये थे। अपने खास लहजे में बोले—"हाँ यही समझो। सोचा, या तो किसी को कुछ दो मत, मगर नः अगर दो तो सब-कुछ दे डालो! हाः-हाः-हाः! अच्छा जय हो!"

कहते हुए गली के बाहर हो गये।

यही ज़िन्दगी हक़ीक़त, यही ज़िन्दगी फ़साना

कहानी और गीत में अन्तर है, यह मेरी धारणा है। कैसा है, कितना है, क्यों है, यह सब न पूछिए क्योंकि इसके बारे में मैंने अभी तक राय क़ायम नहीं की। लेकिन अन्तर है, यह मेरी धारणा है।

तो परेशानी यों उठ खड़ी हुई कि उस दिन एक मशहूर साहित्यकार ने अपने व्याख्यान में यह कहा कि मैं कहानी और गीत में कोई मौलिक अन्तर नहीं मानता। तब से और तो कुछ नहीं मगर इतना अवश्य हो गया कि जब भी मैं दोनों में से किसी एक की रचना करने बैठता तो मुझे इसका हरदम ख़याल रहता कि कहीं एक में दूसरा न आ पैठे। अक्सर ऐसा होता कि भावनाओं के अभाव में गीत तुकबन्दी-सा होकर वर्णनात्मक होने लगता और कहानी तथा गीत का अंतर मिटने लगता; कभी यह भी होता कि कहानी में वस्तु के अभाव में कुछ-कुछ रेशमी, मूँगिया ढंग के रंग उभरने लगते और फिर कहानी और गीत का अंतर मिटने लगता। अजीब परेशानी होती उस वक़्त और कहानी ऐसी बनती जिसे मेरे प्रशंसक टेकनिक की दृष्टि से महान् बतलाते तथा निन्दक उसे बेपर की उड़ान बताते। निन्दक ही तो हैं जो ऐसा कहते हैं, और नहीं तो क्या !

उस वक्त भी कुछ ऐसी ही परेशानी में मुब्तिला था। कहानी लिखने बैठा था और कहानी थी कि गीत-पथ पर ऊर्ध्व संचरण करने के लिये

बेक़रार ! हाँ तो वह चित्रकार था, उसने अपने अंतर पर छाए हुए अनबरसे बादलों के इन्द्रधनुषी रंग चुने थे। रंग चुने थे तो चित्र बनाना था न ! हाँ तो उसने चित्र बनाया। मगर किसका चित्र ? ऊँह यों नहीं। उसके सामने समस्या थी कि इन अनबरसे बादलों से चुराए हुए रंगों को किसकी मोरपंखी मुस्कान पर न्योछावर कर दे ? किसकी मुस्कान पर न्योछावर करे, उसका हृदय सागर जो है....

'खट् खट् खट्'....

उफ़ कहानी लिखना भी कोई कुँजड़े की दूकान लगाना है ! मिनिट-मिनिट पर डिस्टर्बेन्स ! मगर मैंने भी तो ग़लती की कि सबेरे-सबेरे कहानी लिखने बैठ गया। लिखने-पढ़ने के लिये तो रात का वक़्त ही ठीक होता है। क्योंकि उस वक़्त हर प्रकार की अनुभूतियों के क्षेत्र में मन के घोड़े दौड़ाना आसान होता है। एकाकीपन चाहते हैं तो रात से ज्यादा एकाकीपन कब मिलेगा। भीड़-भाड़ चाहते हैं तो दीवारों से बातें कीजिए। प्रकृति से शौक है तो झींगुर की झनकार सुनिए और अगर जन-जीवन पर ही उतारू हो गए हैं तो राह पर जाते हुए बटोही का गीत, लोकगीत हो तो और भी अच्छा। सफल प्रेमी हैं तो पिछले प्रेम पत्रों के जवाब लिखिए और असफल हैं तो पुराने भेजे गए पत्रों के लिए रिमाइंडर लिखिए। या कुछ भी नहीं हैं तो जाग्रत स्वप्न देखिए और आशा और निराशा के बेहतरीन मज़े लूटिए।

पलक मारते इतनी बातें सोच गया और भी आगे सोचता मगर फिर वही—"खट् खट् खट्... अरे क्या सोते ही रहोगे ?"

मैं किस तरह कहता कि नहीं जनाब सो नहीं रहा हूँ, बल्कि जाग रहा हूँ, यों समझिए सजग हूँ, कहानी लिखने में मशग़ूल हूँ। लिखने का सारा सामान मेज़ पर अच्छी तरह फैला कर दरवाज़ा खोलने के लिए उठा कि आने वाले की निगाह लिखने के सामान पर ही पड़े। उसी की बात उठे। कुछ कलाकार के सम्मान में बातें कही-सुनी जायँ तो गाड़ी और आगे बढ़े।

दरवाज़ा खोला तो देखा श्यामलाल खड़ा था। बचपन का साथी और अब प्रकाशक। लेखक के सामने ही उसकी रचना भी हो और प्रकाशक भी

तब उसकी वही दशा होती है जो लड़की के पिता की होने वाले दामाद के लड़की देखने आने पर होती है। वह लड़की को दिखाना भी चाहता है और उसकी लज्जा को भी बचाए रखना चाहता है। वह उस समय एक साथ ही लोभी और निस्पृह दिखाई देता है। और दामाद साहब की तो बात ही क्या ! गोया लड़की क्या देखते हैं कोई एहसान करते हैं। यों सड़क पर किसी की लड़की को इस तरह से देखें तो. . . ख़ैर जाने दीजिए।

श्यामलाल ने दरवाजा खुलते ही कहा—"अमाँ सो रहे थे क्या ?" और मेरी सारी वेश-भूषा पर नज़र डाली, कढ़े हुए बाल देखे। सवाल की व्यर्थता का अनुमान करके बोला—"कहीं जाने के लिए तैयार मालूम होते हो।"

मैं चुप रहा। श्यामलाल की निगाह अब तक टेबुल पर पहुँच चुकी थी। पलक मारते ही समझ गया। बोला—"अमाँ कुछ लिख रहे थे क्या ? अजब आदमी हो। जुलाई के महीने में लिखते हो। अमाँ यह तो महीना सच पूछो तो किताबें बेचने का महीना है। बिज़िनेस, बिज़िनेस करो मेरे भाई इस महीने में तो। लिखो जाड़ों में और छापो गरमियों में। क्या बताऊँ यह रोज़गार का मौसम बरसात में पड़ता है। दिन-दिन भर निकल नहीं मिलता है। यों हजारों के वारे-न्यारे हैं दिन-दिन भर में।"

ऊब उठा तो मैं कह ही बैठा—"कैसा चल रहा है तुम्हारा काम आजकल ?"

"काम का तो आजकल कहना ही क्या ? सोचता हूँ चार हाथ हों तो और काम करूँ। आदमियों की कमी खलती है। तुम तो खाली ही हो। चले चलोगे क्या मेरे साथ ? बोलो।"

मैं जान गया कि कहानी के भाग्य में अब पूरा होना नहीं है। पूछा—"कहाँ चलना है ?"

"कहाँ बताऊँ कहाँ चलना है। बस चल दो। न हो कुछ नाश्ता कर लो न जाने कब फुरसत मिले। कपटी. . . ओ कपटी. . .अमाँ नाम भी अच्छा रख छोड़ा है नौकर का। साफ 'कवि जी' की ध्वनि निकलती है। मैं तो सोचता हूँ टी-कप कहा करूँ।"

मैंने कहा—"कपटी-कपटी करते हो तो टी-कप टी-कप निकलता ही है, तुम्हें परेशान होने की कोई जरूरत नहीं है। मैंने उससे कह रखा है कि दो बार कपटी कहने वाले को एक कप चाय जरूर पिलाओ।"

अब तक 'आया सरकार' की आवाज आ चुकी थी। अब दो प्याले चाय आ रही थी।

पानी बरस चुका तो हम लोग प्रेस मालिक के घर से निकले। अब डिस्पैच डिपार्टमेन्ट में जाना था। श्यामलाल ने परमिट का इन्तजाम करके ५० हजार बेसिक रीडरों के कवर खरीदे थे। प्रान्त के शासकों का खयाल था कि प्रकाशक लोग नियत कोटा से ज्यादा छाप लेते हैं इसकी रोक-थाम करनी चाहिए। सो इस प्रकार कि कवर एक जगह ठेके पर छपाए जायँ और बाक़ी पृष्ठ दूसरे प्रेस में छपाए जायँ, वह भी ठेके पर। फिर वह प्रकाशक को दिया जाय जो उसकी जिल्द बँधवा कर बेचने का प्रबन्ध करे। इस प्रकार शासकों के विचार से प्रकाशकों द्वारा होने वाला शोषण रुक सकता था। हाँ किताबों का दाम इतने मध्यस्थों के कारण जरूर थोड़ा बढ़ गया था।

हम लोग पायजामा हाथ से ऊँचा किए गीली सड़क पर चले जा रहे थे। श्यामलाल का लगभग ५००० रु० फ़ायदे का इंतजाम हो चुका था। खुल कर बातें कर रहा था—"और तुम क्या समझते हो गौरमेन्ट ब्लैक को रोक सकती है ? देखो अभी मैंने प्रेस मालिक की जेब गरम की, कवर मिल गए। दम भर में बाकी पेजों का भी इंतजाम करता हूँ। इधर बाइंडिंग का आर्डर दिया, उधर बुकसेलरों से ऐडवांस रुपया लिया चलो किस्सा खतम अल्ला अल्ला, खैर सल्ला !"

मैं चुपचाप सुने जा रहा था। कभी-कभी आगे के गड्ढे बचाने के लिए दाएँ बाएँ होकर चलने लगता था, कभी सिर घुमा कर चप्पल से छीपते हुए पाजामे को देख लेता था, कोई-कोई छीपें तो पीठ तक आ पड़ी थीं।

श्यामलाल कहता ही जा रहा था—"और यह अलग-अलग छपवाना भी क्या ? जितने चाहूँ ठीक वैसे ही छपवा लूँ। अजी उसी प्रेस से छपवा

लूँ तब तो मानोगे। और क्या लोग छपवाते नहीं? 'राजा एण्ड संस' को तो जानते ही होगे, उनको अर्थमेटिक प्रकाशित करने का ठेका मिला है। दूनी छपवा ली है। बढ़िया सेल अरेंजमेंट है। टुटपुँजिए टापते रहेंगे, सब कहीं 'राजा एण्ड संस' की किताबें नज़र आएँगी। देखो यही है न वह कुआँ और आगे यह पार्क... ७१९ नम्बर यहीं कहीं होना चाहिए...."मैं चुप ही रहा। सोचता रहा। कहानी का बोझ सिर से उतरा न था। यही विचार खाए डाल रहा था कि किस कीचड़ में फँसा, कहानी लिखता होता।

श्यामलाल ने बढ़ कर एक मजदूर से पूछा—"ऐ बेगारी! ७१९ नम्बर किधर पड़ेगा?"

मजदूर ने कहा—"कहाँ जाएँगे?"

श्यामलाल ने मकानों के नम्बर देखकर अन्दाज़ा लगाना शुरू कर दिया था—"सात सौ पच्चीस, और यह है सात सौ बाइस, तेइस, चौबिस किधर गए....."

मजदूर ने कहा—"परेस के गुदाम तो नहीं जाएँगे? किताबें उठवानी हैं?'

श्यामलाल ने लपक कर कहा—"हाँ-हाँ..."

"तो चलिए। आदमी भी करेंगे?"

"हाँ चले आओ। एक ठेला बुला लो तुम लाद देना।"

अब मज़दूर कुछ निरपेक्षता-सी दिखाते हुए बोला—"हो जायगा ठेला भी। आदमी का तै कर लीजिए—क्या देंगे?"

श्यामलाल, 'जो सब से लेते हो मुझसे भी ले लेना' कहकर उसके बताए हुए रास्ते पर चलने लगा। दस क़दम चलने पर ही एक दरवाजे के सामने कई रीम कागज़ रक्खा हुआ दिखाई दिया। ज़ाहिर था कि गुदाम वही था। मजदूर के मुँह से निकल पड़ा—"तो फिर बताएं..."

"तुम्हीं कहो।"

मजदूर ने असमंजस छिपाते हुए कहा—"तो फिर मोल तोल की बात नहीं आठ आने होगा।"

"आठ-बाठ आने मैं नहीं जानता, जो वाजिबी होगा दे दिया जायगा, मजदूरों की कमी थोड़े ही है।"

गुदाम और नजदीक आ गया था। मजदूर ने कहा—"बोहनी का पहर है, खयाल रक्खें सरकार इसीलिए पहले से कह दिया। ठेला बुलाऊँ? मालिक से पर्चा लिखा लाए हैं? बिना पर्चा के मुंशी जी कागज नहीं देते।"

श्यामलाल ने कहा—"हाँ-हाँ पर्चा है, तुम ठेला बुलाओ।"

मजदूर ठेला बुलाने गया। हम आगे बढ़े। एक तख्त पर चादर बिछाए और सामने एक डेस्क रक्खे हुए मुंशी जी बैठे एक दूसरे आदमी से हुज्जत कर रहे थे—"भला देखिए मैं बाल-बच्चों वाला आदमी हूँ। मालिक का हुक्म है कि दस बजे से पहले कोई सामान न दूँ। आप मेरी नौकरी लौटा देंगे?"

वह आदमी गिड़गिड़ाता हुआ बोला—"अरे मुंशी जी गजब हो जायगा। सारी किताबें आज ग्यारह बजे की गाड़ी से चली जानी हैं। पार्सल बनाना, बुकिंग करवाना, एक झंझट है?"

मुंशी जी क्रुद्ध कर बोले—"आपकी झंझट के लिए मैं जिम्मेदार हूँ? मैं भी तो बाल-बच्चों वाला आदमी हूँ। पेट की फ़िकर मुझे भी है।"

उस आदमी ने कहा—"सुनिए मुंशी जी इधर आइए" और सड़क के किनारे कुछ दूर ले गया।

श्यामलाल ने तख्त पर बैठते हुए मुझसे कहा—"इधर बैठ जाओ।" मैं बैठ गया। फिर एक नौकर को बुला कर पूछा—"सुनो भाई, बेसिक के कवर छप कर आ गए हैं क्या?"

नौकर ने चट से जवाब दिया—"मुझे नहीं मालूम...."

श्यामलाल ने ताज्जुब में भर कर कहा—"तुम्हें नहीं मालूम? अरे तुम चौबीस घंटे दूकान में रहते हो, तुम्हें नहीं मालूम। अच्छा कहाँ सामान रक्खा रहता है—देख लूँ मैं?"

नौकर ने कहा—"मालूम तो सब है साहब लेकिन मुंशी जी का हुकुम है कि किसी को कुछ न बताया जाय।"

श्यामलाल कुछ कहना ही चाहता था कि मुंशी जी आ गए, साथ ही वह आदमी भी।

मुंशी जी ने नौकर को आवाज़ दी—"रामेश्वर ! ये किताबों के बंडल बाहर निकाल दो। ठेला करेंगे ? जाओ जी ठेला बुला लाओ। इधर निकल आइए शर्मा साहब आराम से बैठ जाइए।" और मेरी ओर मुड़कर कहा—"हाँ आपका क्या काम है ?"

मैंने श्यामलाल की तरफ इशारा किया तब तक श्यामलाल ने परमिट निकाल कर हाज़िर कर दिया।

मुंशी जी ने रूखे ढंग से परमिट ले लिया। परमिट में ऊपर अरजेंट लिखा हुआ था। मुंशी जी ने उसे लाल रोशनाई से अंडरलाइन किया और पूछा—"आप तो यहीं के हैं, कुछ देर में कोई हर्ज होगा क्या ?"

श्यामलाल ने कहा—"जी हाँ सामान तो बाहर भेजना है। जुलाई के महीने में देर का क्या मतलब ?" और अकड़ के साथ सिर फेर कर दरवाज़े की तरफ देखा।

मजदूर शायद पहले से ही खड़ा था। बोला—"ठेला आ गया है हजूर।"

श्यामलाल ने कहा—"अच्छी बात है, थोड़ी देर रुको।"

मुंशी जी ने कहा—"आपके सामान की ठीक पैकिंग नहीं हुई है। जैसा प्रेस से आया है उसी तरह रक्खा है। ऊपर कागज़ नहीं लपेटा गया है।"

श्यामलाल ने कहा—"क्या हर्ज है मुझे तो सीधे बाइन्डर के यहाँ ले जाना है। यों ही दे दीजिए।"

मुंशी जी ने कहा—"अच्छी बात है। रामेश्वर !"

शर्मा जी का सामान बरामदे में डाल दिया गया था। वे रामेश्वर से कह रहे थे—"भाई ठेला का इंतज़ाम कर दो।"

मुंशी जी की आवाज़ सुनकर रामेश्वर बिना जवाब दिए लौट आया। शर्मा जी रह गए।

श्यामलाल के बंडल ठेले पर चढ़ने लगे। रामेश्वर अन्दर से लाकर देता

जाता, मज़दूर ठेले पर चढ़ाता जाता। मज़दूर अनावश्यक फ़ुर्ती दिखला रहा था। ठेला सड़क पर था। बरामदे और सड़क के बीच में गटर था। कुछ कीचड़, कूड़ा फैला हुआ था। आख़िरी बंडल चढ़ाते वक़्त मज़दूर का पैर फिसला और बंडल गीली ज़मीन पर गिर पड़ा।

श्यामलाल आग होकर गरजा—"अन्धे हो क्या? इतने कवर ख़राब कर डाले।"

मज़दूर कुछ नहीं बोला। बंडल उठाकर ठेले पर रखा और अपने अँगौछे से उसे पोंछने लगा।

श्यामलाल ने रामेश्वर से पूछा—"हो गए सब?"

रामेश्वर ने कहा—"जी हाँ, देख लीजिए छः और दो आठ।" श्यामलाल ने दुअन्नी जेब से निकाल कर मज़दूर के हाथ में रक्खी, मज़दूर कुछ बोले इसके पहले ही कहा—"इतने कवर गन्दे कर दिए, कुछ नहीं तो चार रुपए का नुकसान किया।" और ठेले वाले से कहा—"चलो।"

ठेला चलने लगा।

शर्मा बाबू खड़े-खड़े कुढ़ रहे थे, मज़दूर उनकी ओर चला। मैं बहुत देर तक चुप रह चुका था। क्या बात करूँ कुछ समझ में नहीं आ रहा था। कहानी न लिख पाने का अफ़सोस अलग खाए डालता था। यह भ्रष्टाचार, यह गन्दगी, यह दौड़-धूप, इसके चक्कर में पड़कर कहीं कला की साधना की जा सकती है। मन मार कर यों ही पूछ बैठा—"तुम्हारा तो सचमुच बड़ा नुकसान हो गया। इतने कवर भीग गए?"

श्यामलाल ने कहा—"अजी किसका नुकसान! इसी को कहते हैं बिज़िनेस। थोड़ी-सी भवें तानी साफ छः आने का फ़ायदा कर लिया। आठ आने से कम में मानता थोड़े ही, आजकल मजदूरों के दिमाग़ भी तो आसमान पर चढ़ गए हैं। यहाँ तो पचासों हज़ार किताब के आर्डर बुक हो चुके हैं, यह तो सोना है सोना। इस हाथ दे उस हाथ ले। गिनती के कवर हैं, एकोएक किताब पर लग कर बिक जायँगे।" कहाँ तो मैं सहानूभूति दिखाने जा रहा था कहाँ यह पहलू! श्यामलाल न जाने क्या-क्या कहता जा रहा था, मैं

सिर झुकाए चल रहा था। सड़क पर चढ़ाव था ठेला धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा था।

वह तो कहो कि मौक़े पर याद आ गई, नहीं तो श्यामलाल का चक्कर तो दिन भर काहे को छूटता। बाइंडर के यहाँ जाते, फिर बुकसेलरों के यहाँ, फिर यहाँ, फिर वहाँ। दिन भर वही धोखा, वही फ़रेब, वही जाल, वही बट्टा। और आख़िरकार बुआ जी से फिर माफ़ी माँगनी पड़ती। आज कितने ज़रूरी ढंग से बुलाया था। न जाने कौन-सा काम है। जरूर कोई ख़ास काम होगा नहीं तो जुगेस से करवा न लेतीं, कोई छोटा-सा थोड़े ही है। लेकिन कौन जाने वह उनकी सुनता ही न हो। जिसकी भाग्य नहीं सुनता, उसकी कोई नहीं सुनता। नहीं तो क्या उनकी विधवा हो जाने की उमर थी। आज फूफा जी होते तो. . . .सोचता विचारता हुआ बुआ के घर की ओर भागा चला जा रहा था। कहीं गड्ढे थे, छीप जाता था। कहीं फिसलन थी, गिरते-गिरते बचता था। धूप निकल आई थी, गर्मी एकदम बढ़ गई थी। लड़के नए-नए कपड़े पहने स्कूलों से लौटते मिले। शायद नए साल के दाख़िले हो रहे थे। इसीलिए पढ़ाई शुरू नहीं हो रही थी। लड़के यों ही स्कूल जाते, शोर मचाते, नए दर्जों में जाने की ख़ुशी मनाते और लौट आते। सबेरे का स्कूल, दिन भर की छुट्टी।

विशाल, हवेली जैसा घर था जिसमें बुआ रहती थीं। जेठ वकील थे। काफ़ी पुराने। अब तो सब उन्हीं का था। जुगेस के बालिग़ होने में बहुत देर थी। फिर वकील साहब की बहस के बाद कितनी जायदाद जुगेस या बुआ के हाथ लगेगी यह सभी जानते थे।

दरवाजा खुला ही हुआ था। तब भी मैंने जंजीर खटखटाई। बुआ का भतीजा दरवाजे तक आया और मुझे देख कर ज़रा और शान से अकड़ता हुआ लौट गया, जैसे कह गया हो—"तो आप हैं ? अच्छा ! आए हैं तो अन्दर भी आ सकते हैं। मगर आपको बुलाया किसने था ? ख़ैर चाची के रिश्तेदार हैं रोकूँगा तो नहीं यों आपका कोई स्वागत नहीं है।"

मैंने मन-ही-मन उसे मुँह बिराया—"तुम्हारे बाप का घर है। फूफा नहीं रहे नहीं तो... नहीं तो... मैं तो आऊँगा। तुमको नापसन्द है तब तो और भी आऊँगा" और घर में धँसता हुआ चला गया।

आँगन में अपने कमरे के सामने चारपाई पर बुआ बैठी थीं। सफ़ेद धोती काले किनारे की। साधारण चप्पल। हाथ में एक झोला। उद्विग्न जान पड़ीं। मुझको देखते ही थोड़ा-सा प्रसन्न हो गईं। बोलीं—"अब आए! कितने सबेरे बुलाया था। अब तक इंतजार किया। अभी-अभी जुगेस को रिक्शा लाने भेजा है।"

मेरा नमस्ते उनकी बातों की झोंक में न जाने कब हवा हो गया था। मैं इस प्रकार खड़ा था कि घर में जो भी और कोई हो बाहर आँगन में आ जाय तो उसे भी नमस्ते कर सकता हूँ। वरना बाद में मैं ज़िम्मेदार नहीं होऊँगा कि सब कोई मुँह फुला कर बैठ जायँ कि थोड़ा पढ़ क्या गए हैं बड़ी ऐंठ आ गई है। बुआ की जेठानी का लड़का, जो दरवाजे पर आया था तीन साल से हाई स्कूल में फेल हो रहा था। मगर शान शौक़त की वजह से मुझसे सीनियर जँचता था।

बुआ मन की बात समझ गईं। मेरी ओर देख कर जिठानी के कमरे की तरफ़ हाथ तरेर कर मुँह बनाया कि—'ऐसे ही हैं ये लोग, मिजाजी कहीं के, मेरे रिश्तेदारों को जैसे आदमी ही नहीं समझते।' कहा—"इधर बैठ जाओ आकर" और चारपाई की ओर इशारा किया।

मैंने पूछा—"क्या काम था बुआ?"

बुआ ने बिना किसी भूमिका के जवाब दिया—"इम्तहान देने जाना है, मुझे कालिज तक लेते चलो। तीन घंटे इन्तजार करना पड़ेगा। उस बीच चाहो तो कहीं घूम आना। एक बजे मुझे यहाँ लाना होगा। बस।"

मुझे ताज्जुब हुआ—"इम्तहान, कैसा इम्तहान?"

बुआ ने कहा—"कम्पार्टमेन्टल। पारसाल मेरा कम्पार्टमेन्टल आया था न!" मुझे याद आ गया कि पारसाल बुआ का कम्पार्टमेन्टल आया था

इंटरमीजिएट में, और अब कम्पार्टमेन्टल परीक्षाएँ जुलाई में ही हो जाती हैं। जुगेस आकर भुन्नाया-सा खड़ा हो गया था।

बुआ ने पूछा—"रिक्शा ले आए?"

जुगेस ने संक्षिप्त-सा 'हूँ' कहा।

बुआ 'चलो फिर' कह कर उठ खड़ी हुईं। सारे घर वाले अभी तक कमरों कोठरियों में घुसे हुए थे। बुआ ने बाहर से ही चिल्ला कर कह दिया—"जीजी डेढ़ बजे तक आऊँगी। खाने के लिए मेरा इंतजार न करना।"

रिक्शे पर बैठते ही बुआ का मुँह खुला—"ये लोग चाहते थोड़े ही हैं कि हम इम्तहान दें। कहते हैं अच्छा नहीं लगता, कोई सुनेगा तो क्या कहेगा। मगर मैं सोचती हूँ कि बैठे-बैठे कब तक खाऊँगी। इतना थोड़े ही छोड़ गए हैं। जुगेस भी बड़ा हो रहा था, कालिज जायगा, यूनिवर्सिटी जायगा, खर्चा कहाँ से चलेगा? दादा जी जैसे दे ही तो देंगे। वे तो चाहते ही हैं कि जुगेस बेवकूफ का बेवकूफ बना रहे क्योंकि वही तो उनकी जायदाद का भागीदार बनेगा। मुझसे जहाँ तक होगा, तन पर का कपड़ा बेच के और पेट काट के पढ़ाऊँगी उसे। मेरे और है ही कौन?"

बुआ का मुँह ऐसा खुला था कि मेरी 'हाँ हूँ' भी उनके लिए ग्राह्य नहीं थी। बोले ही जा रही थीं—"मगर यह जुगेस है, इसकी आँखें अब भी नहीं खुलतीं। इम्तहान ही दिलाने को था—कहने लगा दोस्त लोग हँसते हैं कि तुम्हारी अम्मा पढ़ती हैं इसीलिए लेकर नहीं आया।"

मैंने बात बदलने के लिए कहा—"बुआ, किस सब्जेक्ट में है सप्लीमेंटरी?"

बुआ ने कहा—"अंग्रेजी में ही तो दिया था। मैंने नम्बर मँगाए थे। तीस टोटल था अगर एसे के पर्चे में चालिस में आठ के बजाय दस भी आ जाते तो एक ग्रेस मिला कर पास हो जाते।"

मैंने कहा—"हूँ।" तब तक वे कहने लगी थीं—"दादा जी और जीजी भी, चाहते थोड़े थे कि मैं बैठूँ। जीजी को तो काला अच्छर भैंस बराबर है इसीलिए जलती हैं। दादा जी की शह रहती है। कहने लगीं जब साल भर

की मेहनत से नहीं पास हुईं तो दो महीनों में क्या कर लोगी। मगर पढ़ने-लिखने से क्या होता है सब भाग्य से होता है।"

ऊब उठा मैं। कहाँ मेरी कलापूर्ण मनोविज्ञान से ओत-प्रोत मानव मन के रहस्यलोक के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्वों का निरूपण करने में सतत् निपुण कहानियाँ और कहाँ यह मध्यवर्गीय भाग्यवाद। उफ़! इसीलिए तो हमारे साहित्य की कहानियाँ इतनी निर्जीव और मनोवैज्ञानिकता से रहित होती हैं और हम विश्वसाहित्य के लिए कोई चीज नहीं लिख पाते। हमारी कहानियाँ हीन कोटि के लोगों की वस्तु बन जाती हैं। भला इससे कहीं प्रतिष्ठा हो सकती है हमारे साहित्य की। बुआ हैं तो क्या हुआ। मेरा तो दोपहर का खाना दूभर हुआ। कहानी हाथ से गई सो ऊपर से। चलिए अब तीन घंटे सड़कों पर लेफ़्टराइट कीजिए। कुढ़ कर रिक्शेवाले से बोला—"पुल पर से मत ले चलना। घुमा कर लेते चलो, पीछे गेट से चले जाएँगे।"

रिक्शे वाले ने कहा—"सा'ब रिक्शा अन्दर न जा सकेगा।"

मैंने कहा—"गेट पर ही रोक देना।"

रिक्शे वाले ने हैंडिल घुमाया। बुआ ने कहना शुरू कर दिया—"देखो अब क्या होता है पढ़ा-लिखा तो कुछ है नहीं।"

मेरे मन में उठा कि पढ़ा-लिखा नहीं तो इम्तहान देने क्यों आई थीं, घर बैठतीं। रिक्शा पीछे के गेट पर रुक गया।

मैंने कहा—"तो मैं बाहर ही खड़ा रहूँ। मेरा मतलब है एक बजे इसी जगह आ जाऊँ?"

बुआ ने पर्स खोल कर पैसे निकालते हुए कहा—"आज तो सभी अन्दर आ जा रहे हैं, मेरी सीट ढूँढ़ दो न चल के। यह रहा रोल नम्बर" और रिक्शे वाले को पैसे देकर, पर्स की तहों में रोल नम्बर खोजने लगीं।

हम अन्दर चले। चारों ओर लड़कियों का एक हुजूम उमड़ा पड़ता था। क्या शान, क्या ठाट, क्या बाट। गोया फ़ेल होने की धौंस थी क्योंकि यह तो ज़ाहिर था कि उनमें सभी सप्लीमेंटरी में बैठने आई थीं। तब भी अफ़सोस का

कहीं नाम नहीं था। सहानुभूति की कहीं गुंजायश नहीं थी। जैसे उत्सव हो रहा हो। एक लड़की बुआ को पहचानती हुई-सी उनके पास आई। बुआ ने जैसे पहिचाना नहीं। जाने लगीं तो बुआ के मुँह से निकला—'मालती।' उसने जैसे नहीं सुना। दो चोटियों में से एक को आगे कर लिया था, उसे भी पीछे फेंक कर दूसरी आवाज़ का इंतज़ार करने लगी। बुआ ने फिर संशयात्मक ढंग से कहा—'मालती।'

उसने घूम कर कहा—"ओ...आप! क्या आपका भी सप्लीमेंटरी है?"

बुआ ने सकुचाते हुए कहा—"हाँ इस बार भी मेरी तुम्हारी सीट साथ-ही-साथ लगी है?"

मालती ने कहा—"आपका रोल नं० क्या है?"

बुआ ने मेरे हाथ से रोल नं० लेकर बताया—"चार सौ उन्नीस।"

मालती ने कहा—"बस मेरा चार सौ अठारह है।"

बुआ को शायद कुछ परेशानी-सी हो रही थी। बोलीं—"अच्छा तो फिर चला जाय।" मेरी ओर देख कर कहा—"न हो तुम घूम आओ। एक बजे कालिज के दरवाजे पर आ जाना।"

मालती ने बुआ से कहा—"घूमने का क्या काम, कहिए खड़े न रहें, सिर्फ तीन ही घंटे की तो बात है।" और जैसे मेरी ओर देखा ही नहीं।

मैं ग़ुस्से से लाल होकर काँपता हुआ बाहर चला आया।

कालिज की घंटी बजने लगी थी।

गेट से बाहर निकलते-निकलते मेरी हालत ख़राब हो चुकी थी। आख़िर ये है कौन मालती। मनहूस लड़की। बात करती है तो ज़बान पर लगाम नहीं। गेट पर खड़े रहें। जैसे नौकर हैं आपके बाप के। आख़िर आपके बाप हैं कौन? कहाँ रहते हैं, क्या करते हैं, आयँ! उँह होंगे कोई। मुझसे मतलब? दो-दो चोटियाँ लगाए हुए कैसी चुड़ैल जैसी लग रही थी। अरे एक हुई बहुत हुआ, दो की क्या ज़रूरत है कोई लगाम लगानी है?

एक आगे लटका ली एक पीछे। अगर दोनों ही आगे लटकी होतीं तो कैसा लगता। छिः वाहियात बातें। चुप थोड़े बैठने की है। कितनी बातूनी है। बराबर बुआ से बातें करती होगी। इम्तहान के पहले भी और बाद भी। बीच में भी बोले तो कोई ताज्जुब नहीं। न जाने क्या-क्या बातें करके उनका वक़्त खराब करे। कहीं मेरे बारे में न बात करे—मेरे बारे में! मेरा मतलब है मेरी बुराई की तो? यही न कि मेरे बाल बिखरे हुए हैं, कुरता पायजामा छीपा हुआ है। मगर मेरे दिलोदिमाग़ की खूबियाँ उसे क्या मालूम। वे तो बुआ को भी नहीं मालूम कि वे ही उसे मेरी बुराई करने से रोक देतीं। बेचारी बेकार ही मेरी बुराई करेगी। लेकिन मैं कभी क्षमा नहीं करने का। मगर क्या मुझे बदला लेने का मौका मिलेगा? एकाएक मानव की विवशताओं पर ध्यान चला गया। हाय! हम अपने प्रति किए गए अन्यायों का बदला तक नहीं ले सकते। कितनी विडम्बना है! मनुष्य कितना विवश है, मैं कितना विवश हूँ!

कितना विवश हूँ! यहाँ फँसा पड़ा हूँ, कहानी लिखता होता। हाँ कहाँ कहानी छोड़ दी थी।. . . वह चित्रकार था। वह अपने मन पर छाए अनबरसे बादलों को किसकी मोरपंखी मुस्कान पर न्योछावर करता? कोई समाधान नहीं। बेचारे चित्रकार की भी कितनी विवशता है।

हाय री विवशता! एकदम आत्महत्या के विचार मन में आ गए। वैसे ही मोटर ने हार्न दिया। एक गड्ढे में पैर पड़ गया। सारे कपड़े एक बार फिर छीप गए। सिर से पैर तक झकझोर उठा तो न जाने किसका कोटेशन याद आ गया कि पेट भर खाना खा लेने से आत्महत्या के विचार मन से जाते रहते हैं। और ग़ौर किया तो मालूम हुआ कि अनजाने ही घर के रास्ते पर चला जा रहा हूँ।

ग़रज़ें कि घर भी आया। खाना भी खाया और डाँट भी। लेकिन दोनों ही में कोई खास मज़ा नहीं आया। फिर भी मुसीबत टालने के लिए इन दोनों को टालना जरूरी था। चित्रकार की समस्या कमरे में अब भी मेरा इन्तज़ार कर रही होगी। हज़ार शुक्र कि मन से बात अभी तक उतरी नहीं थी। कोई

डिस्टर्ब न कर सके इसलिए डाँट और खाना दोनों को पहले ही निबटा डालना ज़रूरी था। लेकिन कमरे में गया तो यह क्या. . . . ! टिप्पी रानी ने फाइल पेपर के ऊपर पूरी की पूरी वाटरमैन्स इंक की शीशी उँडेल दी थी। इन्द्रधनुषी रंग मोरपंखी मुस्कान पर निछावर हों इसके पहले ही सारी की सारी समस्या एक दुर्भेद्य कालिमा को अर्पित हो चुकी थी।

इतने में टिप्पी रानी अकड़ती हुई आई। मुँह और पंजों में स्याही लग गई थी। मेरे सामने से एक ख़ास अंदाज़ से निकल गईं जैसे मुझे देखा ही न हो। ठीक उसी तरह जैसे वह लड़की निकल गई थी—क्या नाम—मालती! उँह मुझे नहीं मतलब किसी मालती-वालती से। सोचा चलूँ, बुआ ने एक बजे बुलाया था। साढ़े ग्यारह बज गए। कुछ जल्दी पहुँच जाना ठीक होगा। पैदल ही जाना है। न जाने कितनी देर लग जाय। थोड़ी देर पहले ही पहुँच जाना ठीक होगा। लड़कियों के झुंड के झुंड में बुआ जी को खोज निकालना कोई आसान काम तो होगा नहीं। सो चल पड़ा।

यह तो कालिज के गेट पर पहुँचने पर जान पड़ा कि आने में जल्दी की और पर्चा ख़त्म होने में अब भी लगभग पौन घंटे की देर है। आखिर कितने धीमे चलता। सिर पर सूरज भी तो तप रहा था, सभी तो भागे जा रहे थे।

लाचार फिर इधर-उधर घूमने लगा। कालिज के गेट के अन्दर जाने की जितनी मनाही थी बाहर घूमने की उतनी ही छूट थी। बारोज़गार आदमी बेतरतीब ढंग से आते-जाते मिले। खीरे बेचती हुई खटकिनें। गरी केला और फजरी आम बेचते हुए काले-काले अकड़ू लड़के। दूध बेच कर लौटते हुए ग्वाले। कहीं-कहीं पेड़ों की छाँह में बैठे हुए मुकदमेबाज़। घोड़ी पेड़ की डाल से बँधी हुई। हाँक लगाते हुए इक्केवाले, पसीने से तर। घोड़ों के मुँह से झाग निकलता हुआ। कुत्ते मक्खियों से घबराये हुए मिठाइयों की दूकानों के पास लसे हुए। हलवाइयों की दूकानों से मूँगफली के तेल की बासी गंध उड़ती हुई। थोड़ा हट कर बस स्टाप। बस चली गई थी। इक्के वालों में होड़ लगी हुई थी। कुछ बाबू लोग दूसरी बस का इंतजार करेंगे ही ऐसा तय करके लाइन में खड़े हो गए थे। वहाँ पहुँचा।

बस आई। सब मुसाफिर लद कर चले गए। जो उतरे वे भी छँट गए। इक्के वाले हताश होकर अड्डे पर चले गए और एक नीम के पेड़ के नीचे से आखिरी राहगीर को अन्तिम बार पुकारती हुई एक आवाज़ का अंतिम अंश...'दुखिया लाचार, एक पैसा दो....।' मैंने जेब टटोली। एक पैसा फुटकर पड़ा हुआ था। आजकल की बढ़ी कीमतों में अकेले एक पैसे का मूल्य मैं कभी नहीं आँक पाया। इतना कम मालूम होता है कि किसी को दे डालते या खो देते इतना-सा भी कष्ट नहीं लगता। मेरे हिसाब में दो पैसों में एक अधन्ना कभी नहीं बना। अधन्ना हमेशा ही वह रहा जो साढ़े पन्द्रह आने के खर्च के बाद बचा। इसलिए बचा कि वह कुछ भी खरीद नहीं सका।

बुढ़िया आखिरी आवाज लगा कर खामोश हो चुकी थी। आशा या निराशा का कोई भाव उसके चेहरे पर रहा भी हो तो मैं उसे पढ़ नहीं पाया। हाथ पर पैसा डाल कर जो मैंने उसकी आँखें ग़ौर से देखीं तो मालूम हो गया कि ये आँखें खुली तो रहती हैं मगर देखती कुछ नहीं हैं। देखने सुनने का सरोकार अब सिर्फ हाथ और पेट से है। आगे बढ़ा ही था कि उसकी आवाज़ सुनाई दी। मुड़ कर देखा, गोद में एक आठ साल का बच्चा पड़ा था। रो-रो कर कह रही थी—"थोड़ी देर यहाँ भी बैठा करो। दिन-दिन भर भीख माँगती हूँ। तीन-तीन दिन भूखी रहती हूँ। तुम्हारे ही लिए तो। तब तुम क्यों भीख माँगते हो? मँगतों के मँगते ही होते हैं, हे भगवान्!"—और अपनी फूटी आँखें पोंछने लगी। लड़का अपने फटे-पुराने गन्दे कुरते के एक छोर को मुँह से चूसे जा रहा था जैसे एक कान से सुन रहा हो और दूसरे से निकाले दे रहा हो।

मेरा कुतूहल बढ़ा। बुढ़िया कहती जा रही थी—"हलवाई से क्यों माँगते थे? क्यों गाली खाने को वहाँ दौड़-दौड़ कर जाते हो। कहीं दूकानदार भीख देते हैं? लो यह पैसा। जलेबी खाओगे? जाओ खा लो।"

लड़के ने चारों ताँबे के पैसे मुट्ठी में कस कर पकड़े फिर ठिठक कर पूछा—"तुम?"

बुढ़िया ने कहा—"तुम खाओ। कब से जलेबी-जलेबी रट रहे हो। इतना दिन पड़ा है मेरा पेट भर जायगा।"

देश की मिट्टी के ये अंग जिनको अपने भाग की मिट्टी भी नहीं मिली है। ये तो गड्ढे हैं जिन्हें खारे आँसुओं से भर दिया गया है। हलवाई की उस दूकान पर थाली में रक्खी हुई मूँगफली के तेल में तली हुई गन्दी जलेबियाँ यहाँ से कितनी दूर हैं, कौन बता सकता है। अपमान और त्याग के कितने सेतु इस खाई को पार करने के लिए अब तक बाँधे जा चुके होंगे।

कुछ राहगीर आकर पूछने लगे थे कि बस छूट गई क्या, दूसरी कब आयेगी! मैं लौट पड़ा। सब मिला-जुलाकर एक अवसाद की स्थिति हो गई थी। मन बहुत तेज़ी से न जाने कहाँ-कहाँ घूम रहा था। पाँव बहुत धीरे-धीरे पड़ रहे थे।

इक्की-दुक्की लड़कियाँ समय से पहले पेपर खत्म करके निकल आई थीं और अपने-अपने घर जा रही थीं। इतने में ही घंटी बजी। पीछे वाले गेट पर भीड़ कम थी। सब लड़कियाँ शायद मेन गेट से ही निकल रही थीं। सवारियों की भीड़-भाड़ भी उसी तरफ़ थी। इस तरफ़ इक्की-दुक्की ही थीं। बुआ के आने में ज्यादा देर नहीं लगी। अवसाद की एक और मूर्ति। शायद पेपर ख़राब हो गया था। मैंने फ़ौरन रिक्शा बुलाया।

रास्ते भर कोई बातचीत नहीं हुई। बुआ की सिसकियाँ सुनकर मैंने उनकी ओर मुँह फेरा और कहा—"आप हिम्मत क्यों छोड़ती हैं। अभी तो दो पेपर और बाकी हैं।"

बुआ ने अधीर होकर कहा—"बाक़ी होने से क्या होता है। अब नतीजा जाहिर है। बूढ़ा सुआ कहीं पढ़ाए पढ़ता है। जब उमर थी तब तो पढ़ा नहीं। अब दिन-रात का झगड़ा-झंझट।" और अंतरिक्ष की ओर देखने लगीं। घर आ गया। मैंने बाहर ही से चले जाना ठीक समझा। रिक्शे से उतरते हुए कहा—"कल फिर दस बजे..."

बुआ ने उतरे मन से कहा—"हाँ! चले आना। वैसे अब

कोई उम्मीद तो है नहीं।" और एक ठंडी साँस लेकर रिक्शे से उतरने लगीं। रिक्शावाला पैसा लेकर आगे बढ़ गया। मैं नमस्ते कर के लौट पड़ा।

अजीब बेकार के कामों में सारा दिन बीत गया था। बड़ी झुंझलाहट लग रही थी। तेजी से पैर बढ़ाता हुआ घर की ओर चला जा रहा था। बाज़ार पड़ा। स्टेशनरी की दूकानें खास तौर पर सजी हुई थीं। जुलाई का महीना ठहरा। टिप्पी रानी की करतूत याद आई। सोचा एक शीशी इंक लेता ही चलूँ नहीं तो शाम तक फिर बाज़ार तक दौड़ना पड़ेगा। जेब में हाथ डाल कर अन्दर एक रुपये का नोट महसूस करके एक दूकान की ओर बढ़ा, फिर ख़याल आया कि ये सब चीजें बड़ी दूकानों से ही खरीदनी चाहिए, क्योंकि छोटे दूकानदार नक़ली माल बेचते हैं। 'राजा एण्ड संस' की ओर बढ़ा। पार्क के सामने विशालकाय दुमंज़िली दूकान थी। पहुँचने पर देखा छोटे-छोटे लड़कों की एक बहुत बड़ी भीड़ दूकान के बाहर और भीतर हल्ला-गुल्ला मचा रही थी। लौट कर छोटी दूकान से ही इंक खरीदी और आगे बढ़ा। 'राजा एण्ड संस' फिर रास्ते में पड़ी। लड़कों का शोर बढ़ा हुआ था। पूछा तो मालूम हुआ बेसिक स्टैन्डर्ड की अर्थमेटिक बिक रही है। रोज एक से तीन बजे तक बिकती है। नए जोश में छोटे-छोटे लड़के एक दिन भी इंतज़ार नहीं कर सकते। नई-नई रंग-बिरंगे कवरों की किताबों को खरीदने के लिए बेक़रार लड़के दोपहर की सड़ी गर्मी की परवाह न करके सैकड़ों की संख्या में जमा होते और किताबें खरीदते। दूकानदारों की बिक्री धड़ाके के साथ हो रही थी। 'राजा एण्ड संस' ने भीड़ से बचाव करने के लिए दूकान के एक दरवाजे पर एक स्टाल बनवा दिया था। एक सेल्समैन बैठा हुआ किताब के पूरे-पूरे दाम लेता जाता था और एक-एक किताब देता जाता था। लड़के पूरी रेज़गारी लेकर जाते थे और बिना देखे छाँटे जो किताब उनके भाग्य में होती लेकर चले जाते थे। इतने बंधनों और नियमों के अंदर भी न जाने कितना उत्साह था कि भीड़ अपने में समा नहीं रही थी। कोई हँस रहा

था, कोई रो रहा था, कहीं से चीत्कार, कहीं से किलकारी, आवाज़ ही आवाज़, शोर ही शोर।

और आगे बढ़ा। पार्क के किनारे फटे पुराने कपड़े पहने हुए एक ग़रीब लड़का किताब हाथ में लिये हुए खड़ा था। मैंने कुतूहलवश सोचा लाओ कवर की ओर एक निगाह फेंक लूँ। रंगों का कैसा मिश्रण है जिसके लिए इतने लड़के टूटे पड़ रहे हैं। किताब का कवर लड़के की आँखों के ठीक सामने था। इसलिए देखने में मुझे कोई दिक्कत नहीं हुई। मगर कवर में तो कोई खास बात नहीं थी बल्कि भद्दा था। जगह-जगह से फटा हुआ। तसवीर पर काले-काले भद्दे दाग़ पड़े हुए थे। लड़का पथराया हुआ मूर्तिवत् खड़ा था। पानी जो आशाओं और अभिलाषाओं पर फिर चुका था आँखों के रास्ते बह आने को बेक़रार था। लेकिन शायद उसे खुद ही अपने इस कृत्य को लेकर असमंजस हो रहा था। मेरे सामने ज़मीन घूमने लगी, आसमान घूमने लगा। जेब में हाथ डाला, जितने पैसे थे सब उसके हाथ पर रख कर तेज़ी से आगे बढ़ गया।

और अब कहानी लिखने बैठा हूँ। इस वक़्त न रात का सन्नाटा है और न सुबह का सुहावनापन। गर्मी है, अँधोरियाँ बदन को छेदे डाल रही हैं लेकिन कहानी लिखने के लिए बैठ गया हूँ। क्योंकि शायद कहानी लिख डालने से ज्यादा आसान और कोई काम इस वक़्त मेरे लिए नहीं है। गीत और कहानी का अंतर और तदनंतर ये सब वितर्क मेरे मन में इस वक़्त नहीं उठ रहे हैं। सीधी और साफ़ एक तसवीर मन में उठ रही है जो कि कहानी के अलावा और कुछ नहीं है।

देख रहा हूँ एक बुढ़िया है। ग़रीब है, भीख माँगती है। अपने बच्चे को स्वाभिमानी बनाना चाहती है। उसका लड़का हमउम्र लड़कों को किताबें पढ़ते देख ललचाता है। वह पेट काट कर अपने बच्चे को किताब ख़रीद लाने के लिये पैसे देती है। बच्चा दौड़ा-दौड़ा किताब की दूकान पर जाता है, किताब ख़रीदता है। मगर यह क्या ! वह रंगीन तसवीर कहाँ गई ? उसकी किताब

की तसवीर पर एक भद्दा काला धब्बा है। इतना लालच, इतनी ललक, इतना त्याग, इतनी तपस्या, सब बेकार, नितांत व्यर्थ। यह एक सोशल ट्रेजेडी है।

मामूली कहानी नहीं है। ज़रा और ग़ौर से देखिए—मैंने ये पात्र सड़क पर से नहीं बटोर लिए हैं। इन पर यह किसका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है?

यह बुढ़िया कौन है? बस स्टैण्ड के पास वाली भिखमंगी! मगर यह क्या, इसकी झुर्रियाँ कुछ-कुछ मिट रही हैं धोती कुछ सफ़ेद हो रही है—अरे ये तो बुआ हैं। अभागिन बुआ। जो एक इम्तहान में फ़ेल हो चुकी हैं और दूसरे को पास करने की हर उम्मीद छोड़ चुकी हैं। ये कैसी बुआ हैं? ये माथे पर की शिकनें तो और भी मिटती जा रही हैं। धोती अब रंगीन हो उठी है। चोटियाँ एक की दो हो गई हैं—यह तो मालती है, हँसमुख... निर्द्वन्द्व और अच्छी मालती। और पार्क के किनारे कुरूप किताब हाथ में लिए हुए डबडबाई आँखों वाला यह बालक कौन है? अंधी भीख माँगती हुई आँखों के सामने लौटता हुआ कूड़े का ढेर, वही है क्या यह? जुगेसर का चित्र उभरता है। बुआ कह रही थीं—उनके जेठ की सम्पत्ति का भागीदार, अपने बाप का वारिस। तभी तो नहीं चाहते वे लोग कि वह समझदार बनें, पढ़े-लिखें, और अपने अधिकारों को जानें। यह है इस ट्रेजेडी का पहला शिकार। मगर वह गोली कौन है जो इस शिकार को लगी है? ये किताब पर पड़े हुए धब्बे कहाँ से आए? ए वह मजदूर फिसला, वह बंडल गिरा, वह श्यामलाल की त्योरियाँ चढ़ीं। श्यामलाल बाद में क्या कह रहा था?—एक उर्दू का शेर उभरता है—

यही ज़िन्दगी हक़ीक़त,
यही ज़िन्दगी फ़साना।

एक शंका उठती है—मगर ज़िन्दगी इतनी ही तो नहीं है, ज़िन्दगी तो बहुत लम्बी है। मगर समाधान दूर नहीं है—फ़साना भी अभी कहाँ खत्म हुआ, फ़साना भी तो बहुत लम्बा है।